॥ तत्त्वोपनिषद् ॥

श्रुतकेवली श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरिः

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

श्री भुवनभानु जन्मशताब्दी में नया नज़राना - ८

प.पू.श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरिकृतद्वात्रिंशिकायां

नूतनसंस्कृतवार्त्तिकरूपा

॥ तत्त्वोपनिषद् ॥

❉ मूलसंशोधनम् + संस्कृतवार्त्तिकनवसर्जनम् + हिन्दीभावानुवादः + सम्पादनम् ❉

प.पू.वैराग्यदेशनादक्ष-आचार्यदेवश्रीमद्विजयहेमचन्द्रसूरीश्वरशिष्य-
प.पू.आचार्यदेवश्रीमद्विजयकल्याणबोधिसूरीश्वराः

मेरा... वो सच नहीं
सच... वो मेरा है

❉ प्रकाशक ❉

श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट

• **पुस्तक का नाम** : तत्त्वोपनिषद्

• **मूल ग्रंथ** : इक्कीस द्वात्रिंशिका में से षष्ठी द्वात्रिंशिका

• **मूल ग्रंथकार** : श्रुतकेवली महातार्किक महान स्तुतिकार प.पू. आचार्यदेव श्री**सिद्धसेनदिवाकरसूरि** महाराजा

• **नवनिर्मित संस्कृत वार्तिक** : तत्त्वोपनिषद्

• **मूल ग्रंथ का हस्तादर्शो के आधार से संशोधन + संस्कृत वार्तिक नवसर्जन + हिन्दी भावानुवाद + संपादन** : प.पू. वैराग्यदेशनादक्ष आचार्यदेव श्रीमद्विजय **हेमचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा के शिष्य प.पू. आचार्यदेव श्रीमद्विजय **कल्याणबोधिसूरीश्वरजी** महाराज

• **संशोधक** : प.पू. विद्वद्वर्य गणिवर्य श्री**यशोविजयजी** महाराज

• **विषय** : यथार्थ तत्त्व के अन्वेषण का रहस्य

• **विशेषता** : अनादि संसारयात्रा को उर्ध्वगति की ओर एक टर्निंग पॉइंट देने वाला एक अद्भुत ग्रंथ, जिसका माध्यस्थ्यपूर्ण अध्ययन विश्व की किसी भी व्यक्ति के लिये सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति का बीज बन सकता है, जिसका परिशीलन सफलतापूर्वक विवादो को समाप्त कर सकता है।

• **प्रति** : ५००

• **मूल्य** : १००/-

• © *श्रीजिनशासन आराधना ट्रस्ट*

प्रस्तुत ग्रंथ के किसी भी अंश के उपयोग करने से पहले लेखक या प्रकाशक पूर्व मंजूरी आवश्यक है।

यह ग्रंथ ज्ञानद्रव्य में से प्रकाशित हुआ है, गृहस्थों मालिकी करने के किये उसका मूल्य ज्ञानखाते में अर्पण करें।

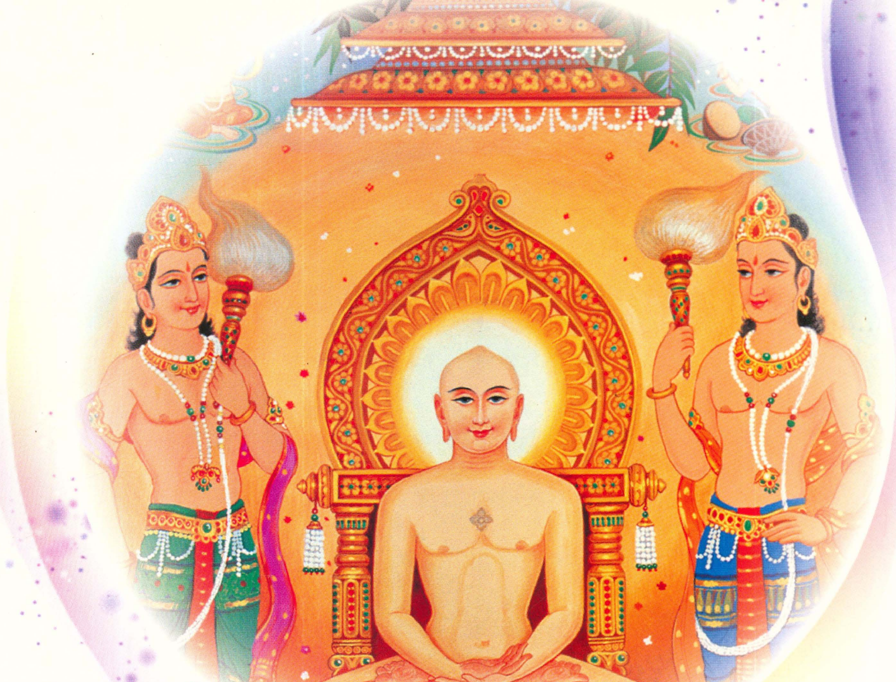

चरमतीर्थपतिः करुणासागरः श्रीमहावीरस्वामी

अनन्तलब्धिनिधानः श्रीगौतमस्वामी

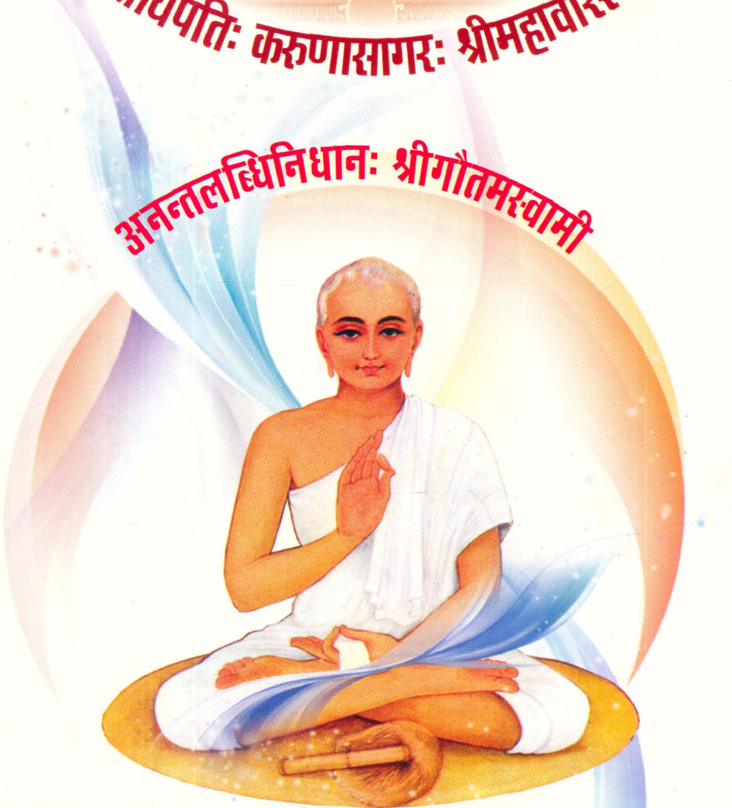

पञ्चमगणधरः श्रीसुधर्मास्वामी

કૃપા વરસે અનરાધાર

સિદ્ધાંતમહોદધિ સુવિશાલગચ્છસર્જક પ. પૂ. આચાર્યદેવ

શ્રીમદ્વિજય પ્રેમસૂરીશ્વરજી મહારાજા

વર્ધમાન તપોનિધિ ન્યાયવિશારદ પ. પૂ. આચાર્યદેવ

શ્રીમદ્વિજય ભુવનભાનુસૂરીશ્વરજી મહારાજા

અજોડ ગુરુસમર્પિત ગુણગણનિધિ પ.પૂ. પંન્યાસપ્રવર

શ્રી પદ્મવિજયજી ગણિવર્ય

સિદ્ધાંત દિવાકર પ.પૂ. ગચ્છાધિપતિ આચાર્યદેવ

શ્રીમદ્વિજય જયઘોષસૂરીશ્વરજી મહારાજા

વૈરાગ્યદેશનાદક્ષ પ.પૂ. આચાર્યદેવ

શ્રીમદ્વિજય હેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજા

.......अनुमोदना........ अभिनंदन........ धन्यवाद...

❋ सुकृत सहयोगी ❋

समतासागर प.पू.आ.भ. **राजेन्द्रसूरीश्वरजी** म.सा.
के आज्ञावर्तिनी विदुषीरत्ना प.पू.प्रवर्तिनी श्री **वसंतप्रभाश्रीजी**
म.सा. की शिष्या पू.सा. श्री **चारित्रवर्धनाश्रीजी** म.सा.
आदि ठाणा-९ के चातुर्मासनिमित्त,
उनकी प्रेरणा से **पाली (रायगढ़)**
श्री सङ्घ श्राविक - ज्ञानानिधि
सद्व्यय की
भूरि भूरि अनुमोदना

.......अनुमोदना........ अभिनंदन........ धन्यवाद...

- प्राप्ति स्थान : **श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट**

श्री चंद्रकुमारभाई जरीवाला, दु.नं.6, बद्रिकेश्वर सोसायटी, मरीन ड्राईव ई रोड, मुंबई-2. फोन-22818390, 22624477

श्री चंद्रकांतभाई एस.संघवी, 6/बी, अशोका कोम्प्लेक्ष, पहेला गरनाला पासे, पाटण-384265. (उ.गु.) मो. 9909468572

श्री बाबुभाई सरेमलजी बेडावाला, सिद्धाचल बंग्लोझ, सेन्ट एन हाईस्कूल पासे, हीरा जैन सोसायटी, साबरमती, अमदावाद-५. मो. 9426585904.

- **मुद्रक** : श्री पार्श्व कोम्प्युटर्स, अमदावाद. फोन-079 25460295

तत्त्वोपनिषद् के भीतर मे....

महाकवि कालिदास ने कहा है – **'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'** प्राचीन होना यही सुंदरता या यथार्थता का कारण नहीं है। श्रीसिद्धसेन दिवाकरजी की इस कृति में यही बात अत्यन्त गम्भीरता से सोची गइ है। यह केवल विचार मात्र नहीं, इस छोटीसी कृति में सारे विश्व को एक सही राह दिखाने की एवं अनेक अनेक गलतफेमी दूर करने की एक अद्‌भुत शक्ति भरी हुइ है। यदि पक्षपातमुक्त हो कर मध्यस्थता से इसका अभ्यास किया जाये, तो इस अद्‌भुत शक्ति का अवश्य अनुभव होगा।

बत्तीस श्लोक का यह सङ्ग्रह है, जिसे द्वात्रिंशिका कहते है। दिवाकरजी की वर्तमान में बाइस द्वात्रिंशिका प्राप्त होती हैं, जिनमें यह छठ्ठी द्वात्रिंशिका है। इस पर संस्कृत एवं हिन्दी वार्तिक की[१] रचना हुई है, जिसका नाम है तत्त्वोपनिषद्।

यदि मैं ऐसा कहू कि दिवाकरजी के गम्भीर आशयों को प्रगट करने के लिये मैने यह रचना कि है, तो यह मेरा दुःसाहस ही होगा, कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तैली ! फिर भी यह महान कृति प्रकाश में आये और सारे विश्व पर इससे उपकार हो, इस भावना से इस कृति के तात्पर्य को पाने का एक प्रयत्न जरूर किया है। सम्भव है कि दिवाकरजी का तात्पर्य और गम्भीर हो, मगर सूत्र के अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से एक अर्थ यह भी है इतना तो अवश्य कह सकता हूँ।

फिर भी मंदबुद्धिता आदि हेतु से इस वार्तिक में क्षति होना असम्भवित नहीं है, मेरी विद्वानों से नम्र प्रार्थना है कि, मेरी क्षतिओं का संशोधन करें।

---

१. टीका निरन्तरव्याख्या – यह टीका नही, वार्त्तिक है – उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्त्तिकम्। जो कहे हुए, नही कहे हुए एवं मुश्किल से कह सके ऐसी बातों पर विमर्श करता है, उसे वार्त्तिक कहते है।

यह कृति कोइ साम्प्रदायिक सीमा नही रखती है, यह किसी एक धर्म के गुणगान नहीं गाती है, सारा जगत मुक्त मन से इसका अभ्यास कर सकता है और इसके दिव्य दिग्दर्शन से अपने भविष्य को सुखी एवं समृद्ध बना सकता है। इसी अभिलाषा के साथ किया हुआ यह प्रकाशन सार्थक हो ऐसी शुभकामना। प.पू.वद्विद्वर्य गणिवर्य श्री यशोविजयजी महाराजने महती उदारता से इस प्रबंध का संशोधन किया, अतः हम उनके आभारी है।

मूल कृतिका संशोधन निम्नलिखित हस्तादर्शो के द्वारा किया गया है।

क - भांडारकर इन्स्टीट्युट - पूणे - ताडपत्री नं.६७

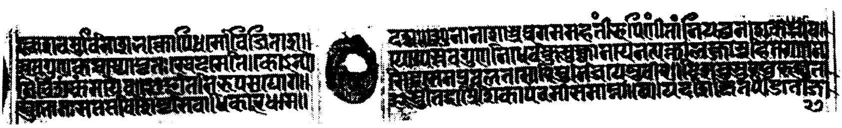

ख - श्री जैन आत्मानंद सभा - भावनगर, प्रत नं.१०२

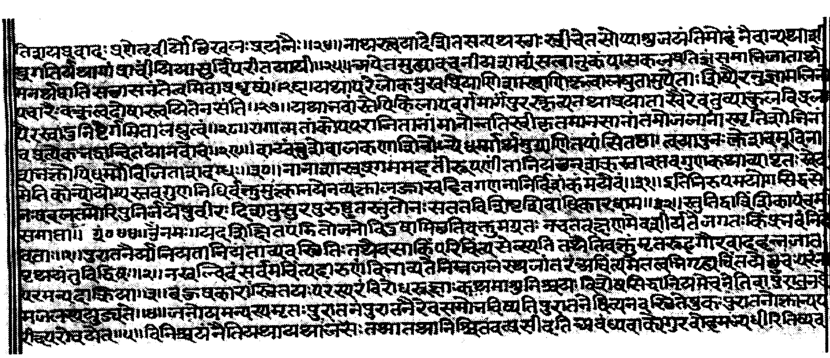

जिन के सौजन्य से इस प्रतियो की प्राप्ति हुई, ऐसे बहुश्रुत मुनिराजश्री जंबूविजयजी म.सा., सेवाभावी मुनिराजश्री कृपाबिन्दुविजयजी म.सा. एवं सहायकारी मुनिराजश्री सुधारसविजयजी म.सा. का हम कृतज्ञता से स्मरण करते है।

जिनाज्ञाविरूद्ध निरूपण हुआ हो, तो मिच्छामि दुक्कडम्। क्षतिनिर्देश करने के लिये बहुश्रुतो को विनम्र प्रार्थना।

कार्त्तिक कृष्ण १३,
वि.सं.२०६७,
अठवालाइन्स जैन संघ,
सुरत.

– प. पू. प्राचीन आगम–शास्त्रोद्धारक
आचार्यदेव श्रीमद्विजय **हेमचन्द्र**सूरीश्वरजी
महाराजा का शिष्य
आचार्य विजय **कल्याणबोधि**सूरि

आत्मीयः परकीयो वा
कः सिद्धान्तो विपश्चिताम्।
द्रष्टेष्टाबाधितो यस्तु
युक्तस्तस्य परिग्रहः।। योगबिन्दौ–५२५ ।।

विद्वानों के लिए कोइ भी सिद्धान्त अपना या पराया नहीं होता है। जो प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित न हो, ऐसा सिद्धान्त किसी का भी हो, उसका स्वीकार करना उचित है।

– आचार्य हरिभद्र

श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरिकृतषष्ठीद्वात्रिंशिकावृत्तिरूपा

।। तत्त्वोपनिषद् ।।

यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रतः।
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगतः किं प्रभवन्ति देवताः।।१।।

(वैतालीयम्)

तत्त्वोपदेशकं नत्वा, परं तत्त्वं गुरुं तथा।
तत्त्वोपनिषदं वक्ष्ये, तत्त्वतृषाकरीं विशाम्[1] ।।

अशिक्षितेत्यादि। व्याहतम्, न, बह्वर्थत्वात्। असम्बद्धानर्थक-निरर्थकान्यतमतदुक्त्यप्रकाशनमेव तल्लाघवौषधम्। आह च – विभूषणं

अशिक्षित – पंडित जन विद्वानों के समक्ष जो कहना चाहता है, वो उसी समय नष्ट क्यूँ नही हो जाता ? भले ही मनुष्य उस युक्तिरहित बातों की उपेक्षा करे, मगर क्या दुनिया में देवताओं का भी कोइ प्रभाव नहीं रहाँ ?।।१।।

तत्त्व के उपदेशक ऐसे परमात्मा को तथा परम तत्त्वस्वरूप ऐसे सद्गुरु को नमन कर के मनुष्यो को तत्त्वतृष्णा उत्पन्न करने वाले ऐसे तत्त्वोपनिषद् ग्रंथ का मैं प्रतिपादन करूंगा।

दिवाकरजी की इस मार्मिक उक्ति पर विमर्श करे, उससे पहले ही एक प्रश्न होता है, कि यहा अशिक्षित पंडित ऐसा जो विधान किया गया वो तो परस्पर विरुद्ध बात है। भला... अशिक्षित हो, वो पंडित कैसे हो सकता है ? जवाब है –

अशिक्षित ऐसा पंडित – यह अर्थ में विरोध सम्भवित है, मगर इस पद के कइ और अर्थ है। देखिए,

(१) जो शिक्षित भी नहीं और पंडित भी नहीं= अशिक्षितपण्डित।

---

१. मनुष्याणाम्।

मौनमपण्डितानामिति। विद्वदग्रे तत्प्रकाशनमिति महद्दुःसाहसम्। असह्यं चैतत्। तथापि तत्प्रकाशितानां पुण्यबलतो मुग्धमान्यता। प्रियाविचारि-तरमणीयता हि मुग्धस्वभावः। ततश्च तन्मतविस्तृतिर्विचाराक्षमविचाराणां

---

(२) जो शिक्षित न होते हुए भी अपने आप को पंडित मान लेता है = अशिक्षितपण्डित।

(३) जो क्रिया शिक्षित नही होती है जैसे कि श्वासोच्छ्वास आदि, वो क्रिया है अशिक्षित, ऐसी क्रियाओं में ही जो पण्डित है = अशिक्षितपण्डित।

(४) जो अशिक्षित है, मगर पुण्य के बल पर पण्डित - ऐसी कीर्ति उसे मिली है, इस लिये उसे निक्षेपसिद्धान्त के अनुसार नाम- पंडित कहा जा सकता है, वो अशिक्षितपण्डित।

इन अर्थों में कोइ विरोध नहीं है। दिवाकरजी कहना चाहते है, कि ऐसा अशिक्षित पंडित जन अपनी बुद्धि से जो कहना चाहे वो ज्यादातर उटपटांग होगा या तो अनर्थकर होगा, कम से कम निरर्थक तो होगा ही। ऐसी व्यक्ति अपने सूझाव पेश ना करे यह ही उचित है। कहा भी है - मौन अपण्डितों का विभूषण है।

मगर जब वो अपने दिव्य (?) विचार विद्वानों के आगे पेश करने जाता है, तब तो हद हो जाती है। यह मिथ्याभिमान की एक सीमा है, एक दुःसाहस है, विद्वानों की बुद्धिमत्ता को एक चुनौती है, या उनकी उपेक्षा या उपहास है। जीते जी किसी को कोइ कह दे कि- 'आपकी मृत्यु हो चूकी है' ऐसी यह असह्य बात है, तद्दन अविश्वसनीय बात है।

काश..... दुनिया में ऐसे अशिक्षितपंडितों को मौन कर सके ऐसा कोइ कानून नही बना। कोइ राजा, कोटवाल, सरकार या पुलिस उसकी धरपकड नही करती। इसी कारण, हज़ारों सालो में ऐसे कइ महानुभावों ने (?) अपने खयाल जगत के समक्ष रख दिये और पुण्य बल से थोडी-बहुत मान्यता प्राप्त कर ली। कमी तो विद्वानों की ही होती है, मुग्ध जनों

परब्रह्मसिद्धान्ततया प्रसिद्धिश्च। सोऽयं विडम्बनावधिः। ततस्तत्प-रीक्षणमपि नास्तिक्यापयशोनिबन्धनम्। किं नात्र पुरैव सुरकृतविशीर्ण-तेत्याचार्यहृदयम् ।।१।।

अथ किं नात्र विचारितरमणीयतेत्यारेकायामाह –

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थिति-
[1]स्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य [2]सेत्स्यति।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवा-
दहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः।।२।। (वंशस्थम्)

की नही । मुग्ध जनों का यही स्वभाव होता है कि जो वस्तु विचार न करने पर ही सुंदर लगे वो वस्तु उन्हें प्रिय होती है। अतः उनका मत विस्तृत होता गया। लोग उन खयालों को परमात्मवाक्यरूप सिद्धान्त समज ने लगे। उस पर विचार करने की इच्छा भी एक अपराध बन गइ। उसके परीक्षक को नास्तिक कहकर बदनाम किया गया। और तब विडम्बना की चरमसीमा आ चूकी कि जब उस अशिक्षितपंडितजन के खयाल परमतत्त्व और मोक्षमार्ग बन गये।

ऐसा क्यूँ न हुआ कि उसके खयाल पेश होने से पहले ही तूट-फूट के विनष्ट न हो गये? यद्यपि दुनिया में उनके लिये कानून नही है, मगर देवताए तो है ना ? क्यूँ उन्होंने अपने प्रभाव से उनके खयालों को वही समाप्त न कर दिए ? ऐसे भयंकर परिणाम का देवताओं ने पहले से ही प्रतिकार क्यूँ नहीं किया ? यही प्रश्न दिवाकरजी के दयालु दिल को पीडित कर रहा है ।।१।।

अशिक्षित पंडित जन का अभिप्राय विचार करने पर क्यों नहीं टिकता ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए दिवाकरजी कहते है-

पुरातनों ने जो व्यवस्था निश्चित की है, वो क्याँ वहीं विचार कर के सिद्ध होगी ? मृत पुरुष के रूढ हुए गौरव से 'जी हा' करने के लिये

१. क- स्तवैव। ख- स्तथैव। २. क- सेत्स्यसि।

न हि प्राचीनत्वं प्रामाण्यबीजम्। अपरीक्षणमात्मघात इति वक्ष्यति। ततश्च परीक्षितरम्यगौरव एव बुधत्वम्।।२।।

को नामात्र विचारः ? का च तद्विरहे क्षतिः ? इत्यत्राह –

न खल्विदं सर्वमचिन्त्यदारुणं,
विभाव्यते निम्नजलस्थलान्तरम्।
अचिन्त्यमेतत् त्वभिगृह्य चिन्तये–

मेरा जन्म नहीं हुआ है, चाहे (मेरे) दुश्मनों का उद्‌भव हो जाये।।२।।

प्राचीन पुरुषों ने जो व्यवस्था बताइ है, जिन विचारों को निश्चय के रूपमें पेश किया है, उस विचारों पर ही यदि परिचिन्तन किया जाय, तो क्या उनकी व्यवस्था सिद्ध हो पाएगी ? यह सत्य है कि मरा हुआ इन्सान गौरव का पात्र होता है और वह जितना प्राचीन हो , उसका गौरव उतना ही ज्यादा होता है। मगर ऐसे गौरव से मैं परीक्षा किये बिना ही 'हा जी हा' करु इस लिये मेरा जन्म नहीं हुआ है। मैने यहाँ जो प्रश्न किया उसका जवाब मैं स्पष्टतया नकारात्मक देता हूँ। चाहे मेरे इस जवाब से मेरे अनेक दुश्मन क्यूँ न हो जाए।

आगे चलकर दिवाकरजी बतलायेंगे कि प्राचीन होना वही प्रामाण्य का हेतु नही है। और विचार या परीक्षा किये बिना ही प्राचीन का स्वीकार करना यह एक प्रकार का आत्मघात ही है। इस लिए परीक्षा करने के बाद जो खयाल अविरुद्ध सिद्ध होते है उन्हें ही स्वीकारने में बुद्धिमत्ता है।।२।।

इन खयाल के विषय में विचार ही क्यूँ करे? यदि विचार ना करे तो क्या नुकशान है? इसका जवाब देते हुए दिवाकरजी कहते है –

अन्य रीति से विचार की आवश्यकता दिखलाते है –

सचमुच, यह सर्व अविचारणीय एवं भयंकर है, इस तरह निम्न जलवाले अन्य स्थल का विचार नहीं किया जाता है। जो आग्रह के साथ ऐसा सोचे कि यह अविचारणीय है, तो अन्य काल में उसे शोक के

च्छुचः परं नापरमन्यदा क्रिया।।३।।

लोकेऽपि तावन्निम्नजलस्थलान्तरं तादृशं वान्य**दचिन्त्यं दारुणं चेदं सर्व**मिति प्रायः प्राकृतैरपि न विभाव्यते। अपि तु सर्वोऽपि समीक्ष्य परीक्ष्य च तत्र प्रवर्तते। नात्र पुरातनोदितोपयोगः। तथाऽन्यत्रापि किं नेति हृदयम्।

यस्य **त्वचिन्त्यमेतदि**त्येव चिन्तनम्, तस्याभिनिविष्ट**स्यान्य**दाऽसमीक्षाफलदफलपाककाले शोक एवोपतिष्ठते। **नापरं** किमपि। नापराऽस्य काऽपि **क्रिया**। अगाधजलेऽसमीक्षादत्तझम्पग्रहिलवत्। परीक्ष्यकारितैव सचेतनविशेषः, विचक्षणतालिङ्गम्, सम्पद्बीजं च।

अतिरिक्त कुछ करना नही होगा।।३।।

कोइ अज्ञात नदी–तालाब जैसे विषम स्थान में जाने के अवसर पर कोइ ऐसा नही सोचता कि– 'इस स्थान की कोइ परीक्षा करनी उचित नही है – इस पर कोइ विचार नही करना चाहिए। यह सब अचिन्त्य है, इस पर विमर्श करने से भयंकर परिणाम मिलेगा। बुझर्गों ने इसके बारे में क्या कहा है ? यही याद करके मुझे तो आँख बंध करके कूद पडना है।'

गाँव का गँवार लड़का भी ऐसे अवसर पर सोच समझ कर, अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद ही कदम–कदम बढाता है। वो जानता है कि यहाँ पुरातनों के सुभाषितों का कोइ उपयोग नहीं। यही रीति अन्यत्र भी होनी नहीं चाहिए?

'यह सब अचिन्त्य – अविचारणीय है' इसके अलावा जिसके पास कोइ विचार नहीं, वो भविष्य में शोक के अलावा कुछ भी नहीं करता है। जैसे कि गंभीर जल में बिना सोचे कूद पडनेवाला कोइ पागल।

परीक्षापूर्वक ही प्रवृत्ति करना वही जीवों में उच्चचैतन्ययुक्त मनुष्यों की विशेषता है, वही तो विद्वत्ता का परिचय है और वही तो संपत्ति का कारण है। कहा है ना ? बिना बिचारे सहसा कुछ भी न करना चाहिए

तदाह – वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः – इति।।३।।

असमीक्षेति क्वचित्पक्षपात इत्यावेदयति –

बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं,
विरोधरूक्षाः कथमाशु निश्चयः ?
विशेषसिद्धावियमेव[1] नेति वा,
पुरातनप्रेमजलस्य युज्यते।।४।।

बहुप्रकारा इति वचनपथमितनयवादमितपरसमयसमसङ्ख्याः। **विरोधेन** रुक्षा इव **रूक्षाः**, आनुरूप्यस्नेहलेशविरहेण सम्बद्धत्वा–

क्यूँ कि अविवेक परम आपत्तिओं का घर है। जो विमर्शपूर्वक कार्य करता है, उसके गुणों पर अनुरक्त हो कर सम्पत्तिया स्वयं उसे चुन लेती है ।।३।।

सोचे बिना ही स्वीकार कर लेना यह कही पक्षपात का सूचक है – यह बतलाते हुए कहते है –

नाना प्रकार के मतों परस्पर विरुद्ध है और रूक्ष है। इनमें सहसा निश्चय कैसे? 'विशेषसिद्धि में यह ही समर्थ है और यह नही' ऐसा प्राचीनपुरुषों के प्रेम से जो जड हो, वही कह सकता है।।४।।

नाना प्रकार के मतों की अनेक प्रकार की व्यवस्थाए है, जो परस्पर विरुद्ध है। इसी लिये आपस में कोइ तालमेल नहीं, अत्यन्त असम्बद्धता है, रुखी चीज़ जैसे जूड नही सकती, उसी तरह ये भी रूखे–रूक्ष है। अनुरूप स्नेह (अविरुद्धता) का अंश भी न होने से उनमें परस्पर संबंध का अभाव है। इसमें यही सच और बाकी सब झूठ ऐसा अविचारित सहसा *निश्चय कैसे सम्भवित है ?*

इसी मत में विशिष्टता की सिद्धि होती है – यह मत विशेषसिद्धि में समर्थ है। ऐसा परीक्षा किये बिना कह देना, यह तो उसीके लिये उचित

---

१. सिद्धानि यमेव – इति मुद्रिते कप्रतौ च। ख– सिद्धानियमे च।

सम्भवात्। ता**स्वियमेव विशेषसिद्धौ** समर्था, **ना**ऽपराः, इत्यसमीक्ष्य निश्चयस्तु प्राचीनानुरागेण प्रस्तरभूतस्यैवोचितः, न विपश्चितामिति। (जलस्येत्यत्र डलयोः साम्ये पारुष्यपरिहार्थं लप्रयोगः।)।।४।।

अथ पुरातनप्रामाण्यनिःसारतामाविष्कुर्वन्नाह –

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः,
पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः,
पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ?।।५।।

है, कि जो प्राचीनपुरुषों के प्रेम से जड़ हो गया हो – पथ्थरसा बुद्धिहीन हो गया हो।

परस्पर विरोध से स्नेहहीन ऐसी अनेक प्रकार की स्थितियाँ है, तो शीघ्र निर्णय कैसे (हो सकता है)? विशेष की सिद्धि करने के विषय में यही या यह नहीं ऐसा (निर्णय करना तो) पुरातनप्रेम से जड़ बनी हुई व्यक्ति को ही उचित है।

बुद्धिमान – विबुद्ध जन के लिये यह मुमकीन नहीं है। जितने ही वचन के मार्ग है उतने ही नयवाद है, एवं जितने ही नयवाद है, उतने ही परसमय है, ऐसा सन्मति तर्क प्रकरण में स्वयं दिवाकरजी ने ही कहा है। यहा 'बहुप्रकारवालें' ऐसा कहने से उन नाना प्रकार के परसमयों का निर्देश किया है।

'जलस्य' यहाँ ड–ल में साम्य होने से कठोरता का परिहार करने के लिये 'ल' का प्रयोग किया है।।४।।

अब यह बतलाते है कि प्राचीन पुरुषों को ही प्रमाण मानना यह कितनी सारहीन बात है –

मरा हुआ आदमी अन्य का पुरातन है। इस लिए वह भी पुरातन के समान ही है। इस तरह पुरातन अनवस्थित होने से पुरातन के वचनों को बिना परीक्षा किए कौन स्वीकारे?।।५।।

अनित्या प्राचीनेतरव्यवस्थेति नैव प्रामाण्यास्पदम्, अन्यथा रथ्यापुरुषोऽपि तदास्पदं स्यादिति परीक्ष्यकारितयैव भाव्यं कल्याणकामिनेति तात्पर्यम्।।५।।

अथापरीक्षकविडम्बनामाह –

विनिश्चयं नैति यथा यथाऽलस-
स्तथा तथा [१]निश्चितवत् प्रसीदति।
अवन्ध्यवा[२]क्या गुरवोऽहमल्पधी-
रिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति।।६।।

एक आदमी मर जाता है तब वो दुसरे जीवंत आदमी के लिये पुरातन बन जाता है। जैसे कि अन्य प्राचीन पुरुष है, उनके समान ही वो भी बन जाता है।

इस तरह तो कौन प्राचीन और कौन अर्वाचीन ? एक समय का अर्वाचीन भी आज प्राचीन है और आज के अर्वाचीन भी भविष्य में निश्चितरूप से प्राचीन बन जायेंगे हम देख सकते है कि प्राचीनता इस प्रकार से नित्य नहीं है। इसी हेतु प्राचीन पुरुषों भी अनवस्थित है। तब ऐसा कौन हो सकता है, कि जो प्राचीन वचनों की परीक्षा किये बिना ही उनका स्वीकार कर ले ? इस तरह तो रास्ते में भटकता भिखारी भी एक दिन प्राचीन होने के नाते प्रमाण बन जायेगा। इस लिये जो कल्याण की कामना करता हो, उसे प्राचीन पुरुषों पर का पक्षपात व अनुराग दूर करके मध्यस्थ दृष्टि से सभी दर्शनों का – सभी दृष्टि–विचारों का समीक्षात्मक एवं परीक्षात्मक अध्ययन करना चाहिए।।५।।

जो यह नही करता उसकी विषम स्थिति का बयान करते हुए कहते है –

जैसे जैसे आलसी निश्चय नही पाता, वैसे वैसे वह इस तरह खुश होता है कि जैसे उसे निश्चय हो चूँका हो। गुरु का वचन अमोघ है,

---

१. क– निश्चिततत्प्रसीदेति। २. ख– ०वाक्ये गु०।

न ह्युभयपक्षवार्त्ताश्रवणमन्तरेण न्यायालयेऽपि न्यायसम्भवः। अपरपक्षगजनिमीलिकेति स्फुटैवान्यायकारिता, तत्त्वभयम्, आलस्यम्, मान्द्यम्, पक्षपातो वा।

जन्मिनां जन्म क्वचिदेकस्मिन्नेव दर्शने। ततश्चैषां तस्मिन्नेव दृढानुरागः। किन्तु परस्परमत्यन्तविरुद्धदर्शनेषु तत्त्वसम्भव स्तु क्वचि-देकस्मिन्नेव दर्शन इत्यशङ्कितम्। किञ्च सामान्यस्यापि प्रतिक्षेपः

मैं अल्पबुद्धिवाला हूँ, ऐसा सोचता हुआ वह आत्मघात के लिये दौडता है।।६।।

वो आलसी जिस जिस तरह निश्चय पर नहीं आ सकता है, उस उस तरह वो इस तरह खुश होता है कि मानो उसे अच्छी तरह ज्ञान हो गया है, बराबर निश्चय हो चूँका है। 'बुझर्गों के वाक्य सच्चे ही होते है, मैं तो अल्पमति - अज्ञानी हूँ - मैं भला इसमें क्या विचार करुं ? मुझे तो सिर्फ आँख बंध करके श्रद्धा से उनकी बातों का स्वीकार करना है।' बेचारा ऐसा सोचता है, और मानो अपनी इस मूर्खता से पर्वतपर से कूदकर आत्महत्या करने के लिये दोडनेवाले व्यक्ति का अनुकरण करता है।

भला, कोर्ट में कभी भी एक पक्ष की बात सुनके ही सुनवाइ होती है ? दुसरे पक्ष की बात सुने बिना ही कोइ निर्णय किया जाता है ? क्या ऐसे ही लिये गये निर्णय में सच्चाइ की गुंजाइश है ? क्या ऐसा निर्णय न्यायपूर्ण है ? क्याँ ऐसे निर्णय के भीतर तत्त्व से भयभीतता का प्रदर्शन नही है ? या तो तत्त्व का अन्वेषण करने में आलस्य नहीं है ? या तो बुद्धि की मन्दता या पक्षपात नहीं है ? इनमे से एक दोष तो अवश्य है।

हर किसी का जन्म कोइ न कोइ दर्शन को मानने वाले घर में होता है, और उसको अपने अपने दर्शन में दृढ विश्वास हो जाता है। श्रद्धा होना अच्छी बात है। मगर परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दर्शनों में सबको अपने अपने प्राचीन पुरुषों पर अडग भरोसा हो, तब उनमें सच्चाइ की शक्यता तो किसी एक में ही होगी ना?

सतामनुचितः, आर्यापवादस्तु जिह्वाच्छेदाधिक इत्याचार्याः। नातः पुरातनप्रतिक्षेपादृतिः। तत्त्वजिज्ञासा तु बाढमादरार्हा, सा च माध्य-स्थ्यपूर्णदृशाऽखिलदर्शनपरीक्षणेनैव सफला।

असदध्वनो निवर्तनेऽपि सत्त्वापेक्षा, अल्पसत्त्वानां पीडा च। भवानसदध्वगामीति वचोऽप्यरुन्तुदम्। ततश्च स्वेच्छाप्रतिकूलोत्तरभीरूणां तत्त्वान्वेषणगन्धोऽपि दुर्लभः। असदध्वगमनं कायक्लेशैकफलम्, यावद्दूरं गमनम्, तावन्निवर्तनदुःशक्यता। पृच्छतः सकृद्दुःखम्, अपृच्छतः

'किसी सामान्य पुरुष का भी प्रतिक्षेप करना बिल्कुल उचित नहीं है, तो फिर सम्माननीय प्राचीन पुरुषों के प्रतिक्षेप की तो बात ही कहा ? यह तो जिह्वाच्छेद से भी अधिक दोष है।' ऐसा **आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी** फरमाते है। सबके प्रति उचित आदर करना यही सज्जन का कर्तव्य है। अतः इस प्रबन्ध में प्राचीनपुरुषों का प्रतिक्षेप करने का कोइ प्रयत्न नहीं किया है। प्रश्न है केवल तत्त्वजिज्ञासा का। अंधश्रद्धा को दूर करके मध्यस्थ दृष्टि से कि हुइ सर्वदर्शनों की परीक्षा ही तत्त्वजिज्ञासा का फल है।

गलत मार्ग से वापस लौटने में सत्त्व की आवश्यकता है। अंधश्रद्धा झूठे मार्ग को न छोडने की कायरता है। मेरा आजन्म आचरित दर्शन कहीं गलत न नीकले इस खयाल से व्यक्ति परीक्षा करने से घबराहट महेसूस करता है।

एक सहज मानवस्वभाव है, गलत रास्ते से वापस लौटने में भी अंतःकरण में दर्द होता है। 'तुम गलत रास्ते पर हो' ऐसी वाणी भी दिल दुःखाती है। इसी हेतु 'मैं सही रास्ते पर हूँ ना'? ऐसा प्रश्न करने में भी थोडी हिचकिचाट होती है । कही मेरी इच्छा विरुद्ध जवाब मिला तो? यह भय उसे प्रश्न करने में रुकावट बन जाता है।

मगर एक बात समज़ लेनी चाहिए कि गलत रास्ते पर जितना ही आगे जाओ, उसका फल केवल श्रम और पसीना है, लक्ष्य की प्राप्ति नहीं, और वहाँ से लौटना उतना ही मुश्किल और दुःखदायक होता है। परीक्षा

सदातनम्। ततश्चानुरूपमिदमुदितम् – **स्ववधाय धावती**ति।

एवं च पुरातनेषूचितादरपुरस्सरं तदुदितपरीक्षात्मकाध्ययन एव वैदुष्यम्। नायं वादविग्रहः, किन्तु तत्त्वजिज्ञासा, सत्यपक्षपातप्रभवं तदन्वेषणम्। तत्परिपन्थिनी 'यन्मदीयं तत्सत्य' – मिति चित्तवृत्तिः, सर्वत्र सङ्घर्षजननी चेयम्। 'यत्सत्यं तन्मदीय' – मित्येव चित्तवृत्तिस्तत्त्वजिज्ञासावल्लीकादम्बिनी। सेयं सत्यान्वेषणाभिलाषातिशयसवित्री विमुक्तसाध्वसा ससत्त्वसाध्याऽवस्था।।६।।

अथ कोऽतीन्द्रियार्थेषु तर्कावकाशः ? को नु परमात्मसु पर्यनु–

के परिणाम से शायद एक बार दुःख होगा, मगर परीक्षा के बिना तो सदा के लिये दुःखी होना पडता है। दुनिया की इस करुण दशा को देखकर ऐसा लगता है कि परीक्षा और समीक्षा से मूँ मोड लेने वाले लोग आत्महत्या करने के लिये प्रयत्नशील है।

आओ, आज एक निश्चय करे, सभी दर्शन के प्राचीनपुरुषों पर पूर्ण सम्मान के साथ उनकी बातों पर विमर्श करे। यह हार–जीत की धून से भरा युद्ध नही। यह केवल तत्त्वजिज्ञासा है। सत्य के प्रेम से उद्भूत एक सत्य की शोध है। 'मेरा वो सच' यह खयाल तत्त्वप्राप्ति के लिये बडी रुकावट है। जीवन के हर पहेलू में यह खयाल संघर्ष को पैदा करता है। तत्त्व को पाना हो तो यही भावना रखनी है कि 'सच वो मेरा'। इस भावना में ममत्व नही, मोह नही, घबराहट नही। इसमें तो सत्य को पाने की एक अद्भुत अभिलाषा है, निर्भयता से सत्य की शोध करने की क्षमता है। यही भावना तत्त्वजिज्ञासा का मूल है।

आज से हम जीवनमन्त्र बनाये– 'सच वो मेरा'।।६।।

अब दिवाकरजी के सामने एक प्रश्न खडा होता है कि– अतीन्द्रिय चीज़ो में तर्क का कोइ अवकाश नही होता है। फिर आप विमर्श–समीक्षा और परीक्षा के नारे क्यूँ लगाते हो ? भला, हमारी शक्ति तो कितनी सीमित है, इन्द्रियकृत ज्ञान कितना मर्यादित है, फिर हम परमात्मा के

योगः ? ततश्च स्ववधायेत्याद्यत्यसमञ्जसमित्यत्राह-

मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणै-
र्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम्।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवा-
नगाधपाराणि कथं ग्रहीष्यति ? ।।७।।

स्वयमिति न प्रक्षेपभूतानि, किन्तु **तैरे**व **मनुष्यलक्षणैः** पुरातनैर्**नियतानि मनुष्यवृत्तानी**मानि - इत्याशयः । तान्यपि **मनुष्यहेतोः**।

वचन पर प्रश्न कैसे कर सकते है ? इस लिये आपकी यह आत्महत्या वाली बातें बिल्कुल उटपटान है। इस बात का जवाब देते हुए दिवाकरजी कहते है -

मनुष्यस्वरूपी ऐसे उन्होंने स्वयं मनुष्य के लिये मनुष्यों के आचार निश्चित किये है। जिन का पार पाया नहीं, ऐसे अगाध पारों को आलसीओ में एक ऐसा कर्णधार कैसे पा सकेगा ?।।७।।

सभी बात अतीन्द्रिय ही है, ऐसा नही है। और कहने वाले सब परमात्मा ही थे ऐसा भी नहीं, यह मैं आगे स्पष्ट करुंगा। पुरातन पुरुषों भी मनुष्य के ही लक्षणवाले थे। इस लिये वे स्वयं भी मनुष्य ही थे। और उन्होंने स्वयं[1] बहुतसी ऐसी बातें बताइ है कि जो दिव्य नहीं, किन्तु मनुष्य से ही सम्बद्ध है। मनुष्य के जीवन से बिल्कुल जूड कर जो मनुष्य का वृत्त ही बन गइ है, जिसका प्रयोजन भी मनुष्य को ही है, ऐसी बातें उन्होंने अपनी अपनी दृष्टि से नियमित कर दी हैं।

क्या ऐसी बातों पर भी विचार नही करना चाहिए ? जो चीज़ हमारी आँखो के सामने है, उसे देखे बिना ही किसीकी बात से उसका स्वरूप जानना यह कहाँ तक उचित है ? क्या उसमें भी कोइ समीक्षा नही करनी चाहिए ? अतः जो बातें ऐन्द्रियक है = इन्द्रिय द्वारा ज्ञातव्य है, उन बातों

१. दृष्टविषयक बातें पीछे से किसीने जोड दी है, ऐसा नहीं। इस लिए 'स्वयं' शब्द का प्रयोग किया है।

ततश्चैन्द्रियकत्वेनावश्यं परीक्षावकाशः। अनुमितिरपि नासुकरा, तत एवातीन्द्रियेष्वपि निर्णयः सुलभः।

अन्यथा तु स्फुट एवातिप्रसङ्गः। तथा चाचार्याः – दृष्टबाधैव यत्रास्ति, ततोऽदृष्टप्रवर्तनम्। असच्छ्रद्धाभिभूतानां केवलं ध्यान्ध्य-सूचकम् – इति (योगबिन्दौ) विचारालसाना**मलब्धपाराणी**वातीन्द्रिया-वगाहनानि, कर्णवान् – नाविकः, पक्षे यस्य श्रवणश्रद्धयोरेव कौशलं स कर्णवान्, दृष्टेष्वपि प्रश्नादिविरहेणासत्प्रायोमुखादिः, तस्य

में परीक्षा का अवकाश अवश्य है। अनुमान प्रमाण का प्रयोग भी दुष्कर नहीं है, इसी हेतु से जो बात हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं है, उस का भी निर्णय सुलभ हो सकता है।

अब रही बात सर्वथा अतीन्द्रिय बातों की, तो जिसकी वाणी दृष्ट पदार्थों में इन्द्रिय और तर्क से यथार्थ साबित होती है, उसकी अतीन्द्रिय विषयक वाणी में जरुर श्रद्धा कर सकते है। मगर दृष्ट पदार्थों में ही जिसका वचन टिक नहीं पाता उसकी अतीन्द्रिय विषयक वाणी का विश्वास कैसे हो सकता है ?

योगबिंदु में आचार्य हरिभद्रसूरि महाराजा कहते है – जहा दृष्ट से ही बाधक है, उससे अदृष्ट की प्रवृत्ति करना यह अंधश्रद्धा ही नही, अज्ञान भी है।

जो आँखों के सामने की वस्तु पर कि गयी बातों की भी समीक्षा नही करते, उन आलसीओं के लिये अतीन्द्रियविषयक बातों की समीक्षा तो एक ऐसे समुद्र जैसी है, जिनका पार नही पा सकते।

कर्णवान = कर्णधार = नाविक, वह असमीक्षक हो तो सागर पार नहीं कर सकता, प्रस्तुत में जो कर्णवान् है – केवल कानों का ही उपयोग करता है, प्रश्न या तर्क करने के लिये उसके पास जबान या जिगर है ही नहीं, जो केवल सुनना और श्रद्धा करना ही जानता है, ऐसी कर्णवान् व्यक्ति का उस अगाध और अपार समुद्र को पार करना कैसे सम्भवित

तान्यगाधपाराणि दुर्ग्रहाण्येवेति नाद्भुतम्।।७।।

अथ पुरातनपक्षपातविजृम्भितमाह–

यदेव किञ्चिद् विषमप्रकल्पितं,
पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते।
विनिश्चिता[1]ऽप्यद्य मनुष्यवाक्कृति–
र्न [2]पाठ्यते यत् स्मृतिमोह एव सः।।८।।

पुरातनोक्तत्वमेव लोकप्रशंसाप्रयोजकम्, न तु विनिश्चितत्व–मिति। अत एव जीवन् कविः प्रायः कीर्तिवञ्चित इति प्रवादः। तदत्र

हो सकता है ?

यह तो जैसे पर्वत की चोटी पर एक अंध आदमी दौड रहा है, इसे आत्महत्या नहीं तो और क्या कहें ? ।।७।।

प्राचीनों पर पक्षपात रखने से जिस परिस्थिति का निर्माण हुआ है उनका बयान करते हुए कहते है –

जो कुछ भी युक्तिरहित कल्पना हो, वो भी 'प्राचीनों ने कहा है' इसी बल पर प्रशंसापात्र बन जाती है। और आज के मनुष्य के वचन से बनी कृति युक्ति से सुनिश्चित होने के बावजूद भी पठन–पाठन का विषय नही बन पाती, यह केवल स्मृति मोह ही है।।८।।

प्राचीन युक्तिहीन ही होता है ऐसा आशय नहीं, मगर जब प्राचीन होने के नाते ही विषम कल्पना भी आँखे बंध करके स्वीकृत एवं आदरणीय हो जाये और नवीन कल्पना चाहें कितनी भी निश्चयपूर्ण और युक्तियुक्त होती हुइ भी उपेक्षापात्र बन जाये – वो भी सिर्फ एक ही कारण – यह तो आधुनिक है – आजकल की है। अरे भाइ ! क्या है वो तो देखो... मगर नहीं.... पुरातनों परका निश्चल प्रेम उस पर नज़र तक नहीं करने देता।

किसीने सच कहा है – जीवंत कवि की कृति कभी प्रशंसापात्र

---

१. क– श्चितापाद्य। २. ख– पठ्यते।

स्मृतिमोह एव रहस्यम्।।८।।

अथास्यैव पक्षपातस्य पराक्रममाह –

न विस्मयस्तावदयं यदल्पता-
मवेत्य भूयो विदितं प्रशंसति।
परोक्षमेतत् त्वधिरुह्य साहसं,
प्रशंसतः पश्यत [1] किं नु भेषजम् ? ।।९।।

अयमित्यलसः। विदितप्रशंसने सम्भवत्यपि माध्यस्थ्यम्, परोक्षप्रशंसने त्वन्यत्र पक्षपातातिशयं न किञ्चित्।

नहीं होती। इस लिये कवि को मरना पडेगा, पुरातन बनना पडेगा, उसके बाद ही लोग उसकी कदर कर पायेंगे। तो यहा एक ही रहस्य है जिसका नाम है स्मृतिमोह ।।८।।

अब पुरातनो परका पक्षपात जो पराक्रम करता है – अद्भुत आश्चर्य दिखलाता है, उसे कहते है –

आलसी पुरुष ग्रन्थ की अल्पता को जानकर, उस ग्रंथ को ज्ञात करके उसकी प्रशंसा करता है। इसमें कोइ विस्मय नही। लेकिन परोक्ष ग्रन्थ की भी साहस करके प्रशंसा करता है, इसका औषध क्या हो सकता है ?।।९।।

आलसी पुरुष पढ़ने का भी चोर होता है, मगर यदि वो जान ले कि कोइ पुरातन ग्रंथ छोटा है, तो उसकी अल्पता को जानकर उस ग्रंथ को ज्ञात कर ले, या तो किसी ग्रंथ के छोटे अंश को जान ले, फिर उसकी प्रशंसा करे। इसमें तो कोइ विस्मय नहीं।

मगर जिस ग्रंथ को कभी भी देखा-सुना नहीं, उस ग्रंथ की भी साहस करके जो प्रशंसा करता है, उसका औषध भला क्याँ हो सकता है ? आशय यह है कि जो ज्ञात है, उसकी प्रशंसा करने में तो मध्यस्थता संभवित भी हो सकती है। किन्तु जिसे देखा तक नहीं, उसकी प्रशंसा

१. क- किं तु भे०।

इत्थञ्च पितृपरम्पराऽऽगतासाध्यव्याधिः पुरातनप्रेमा, तस्मादस्य भेषजाभाव इत्यभिप्रायः।।९।।

अथ परीक्षाभयभीतानां तत्तामाविष्कुर्वन्नाह –

परीक्षितुं[1] जातु गुणौघ ! शक्यते,
[2]विशिष्य ते तर्कपथोद्धतो जनः।
यदेव यस्याभिमतं तदेव त –
च्छिवाय मूढैरिति मोहितं जगत्।।१०।।

गुणौघ इति भयप्रयुक्तविनयहेतुकामन्त्रणवचनम्। **जातु**–कदाचित् **परीक्षितुं शक्यते**ऽपि, किन्तु प्रकृते तु परीक्षा सर्वथाऽशक्या। **ते** –

करने में तो अति पक्षपात के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। पुरातनप्रेम तो मानो पितृपरंपरा से आया हुआ एक असाध्य रोग है, जिस का कोइ औषध नही है ।।९।।

अब जो परीक्षा से डरते हैं उनकें स्वरूप को प्रगट करते हुए कहते है –

'हे गुणों के वृन्द ! कभी परीक्षा करना शक्य है, किन्तु तेरे लिये विशेष रूपसें (अशक्य है, यतः) लोग तर्कमार्ग में उद्धत है। 'जिसे जो पसंद हो, वही उसका कल्याणहेतु है', इस तरह मूढ़ लोगों ने विश्व को मोहित किया है।।१०।।

यहाँ गुणाकर ! ऐसा संबोधन इस भय से किया गया है, कि कहीं यह पुरातनभक्त परीक्षाप्रेमी बन कर हम से विमुख न हो जायें। भय से भी विनय किया जाता है, यहीं भयविनय उक्त संबोधन का हेतु है।

हे गुणाकर ! कभी परीक्षा करना शक्य है, किन्तु उक्त रीति से प्रस्तुत में परीक्षा शक्य नहीं, और आपको जिसकी परीक्षा अभिमत है,

---

१. क– ०तुं या तु गुणोऽघ श०। २. ख– विशेष्यते त०।

तवाऽभिमतविषये त्वत्यन्तमशक्या। **जनो**ऽपि कुतर्कधृष्टः, ततश्च तत्त्वसंवेदनाऽसम्भवः। सोऽयं भावरिपुरित्याचार्याः, तदाहुः - बोधरोगः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत्। कुतर्कश्चेतसो व्यक्तं भावशत्रुरनेकधा - इति (योगदृष्टिसमुच्चये)। ततश्च त्याज्य एव तदभिनिवेशः, अस्थानत्वात्, आहुश्च - कुतर्केऽभिनिवेशस्तन्न युक्तोऽयं कदाचन। युक्तः पुनः श्रुते शीले समाधौ च महात्मनाम् - इति योगदृष्टिसमुच्चये।

तदेवं परीक्षाविरहाफलक्रिया असच्छ्रद्धाभिभूता अन्यपरीक्षकाक्षमा

उसकी परीक्षा तो विशेष रूप से अशक्य है। लोग तो तर्क के मार्ग में उद्धत है। उनके कुतर्कों से की हुइ परीक्षा कैसे सफल हो सकती है ?

पूज्य आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने तो योगदृष्टिसमुच्चय नाम के ग्रन्थ में कहा है कि कुतर्क तो एक प्रकार का भावशत्रु है। कुतर्क प्रगट रूप से ही ज्ञान का रोग है, प्रशम में विघ्नभूत है, श्रद्धा का भङ्गकारी है, एवं अभिमान का उत्पादक है। इस तरह अनेक प्रकार के कुतर्क चित्तसंबंधी भावशत्रु है, यह बात स्पष्ट ही है। अतः पुरातन ही उपादेय है, यह आग्रह त्याग करने योग्य ही है, यतः यह आग्रह अनुचित स्थान में है। आग्रह का समुचित स्थान प्रदर्शित करते हुए आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी कहते है - कुतर्क के विषय में आग्रह रखना यह कभी उचित नहीं है, किन्तु श्रुत, शील एवं समाधि के विषय में आग्रह रखना यही महापुरुषों के लिये उचित है।

(इस तरह पुरातनप्रेमी जन कुतर्कविरोधी वचन को परीक्षा के विरुद्ध में खडा कर के जनता को भ्रमित करते है।)

इस लिये परीक्षा का आग्रह छोड कर एक ही सिद्धान्त रखो - जिसे जो पसंद हो वही उसकी मुक्ति का कारण। इस लिये जिसे जो जी चाहे वो करे। अब परीक्षा के चक्कर में पडने की कोइ ज़रूर नहीं।

इस प्रकार मोहाधीन जीवोंने दुनिया को मोहित किया है। जिन्होंने अपनी जीवनक्रिया बिना परीक्षा गवाँ दि, पुरातनों पर की अंधश्रद्धा से

स्वयं नष्टा नाशयन्ति जगत्, कुतर्काद्यनुभावात्, अतस्त्याज्यः स माध्यस्थ्यमास्थितैः, यतः न प्रागुपपादिते मध्यस्थकृते तत्त्वजिज्ञासाप्रयुक्तपरीक्षणे कुतर्काद्यवकाशः। यदेवेत्यत्र तु ब्रूमः– न हि सुधाबुद्धिपीतं हालाहलं न मारयतीति नाभिमतशिवदयोर्व्याप्तिरिति यत्किञ्चिदेतत्।।१०।।

अथ विरोधानुरक्ताविरोधविरक्तविडम्बनामाह –

परस्परान्[1]वर्थितया तु साधुभिः,

जो सुना उसे स्वीकार कर लिया, वे स्वयं तो परीक्षा करना हरगीझ नही चाहते, मगर कोइ परीक्षा करे उससे भी वे काँपने लगते हैं। कही हम झूठे साबित हुए तो? यह भय उन्हें सताता रहता हैं। इसी हेतु वे परीक्षा के विरुद्ध तरह तरह की बातें बनाकर भोली जनता को अंधश्रद्धालु बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। अतः स्वयं तो विनष्ट है ही, जगत का भी विनाश करते है।

मगर, जिस तरह पहले कह चूके है, ऐसे मध्यस्थ दृष्टि से तत्त्वजिज्ञासापूर्वक किये गये परीक्षण में कुतर्क की कोइ सम्भावना नहीं है। फिर कुतर्क के नाम पर उसे कोसने में परीक्षा का भय और आत्मनिगूहनके सिवा और क्या हो सकता है ?

कोइ झहर को अमृत समझ कर पी ले तो क्या वो मर नही जायेगा ? आग में पानी समझ कर कूद पडे, तो जल नहि जायेगा ? इस लिये जिसे जो पसंद हो वही उसे मुक्ति दिलवायेगा, इस बात में कोइ प्रमाण नहीं.... यह तो केवल मोहराजा के सेवकों की जगत को मोहित करने की चालबाझी है।।१०।।

जो विरोधपूर्ण शास्त्रों को अपूर्व श्रद्धा से स्वीकारते हैं, और विरोधमुक्त युक्तियुक्त शास्त्रों की परीक्षा तो छोडो, उनके दर्शन भी नही करते, यह भी गर्व की बात है। इसी विचित्रता का दुःखसे वर्णन करते है –

अविरोध के दृष्टा ऐसे महात्माओं ने परस्पर अन्वर्थयुक्त ऐसे शास्त्रों

---

१. क,ख– ०रान्वर्थतयातिसाधुभिः।

कृतानि शास्त्राण्यविरोधदर्शिभिः।
विरोधशीलस्त्वबहुश्रुतो जनो,
न पश्यतीत्येतदपि प्रशस्यते॥११॥

आस्तां तद्गुम्फनम्, विरोधं पश्यन्त्यपि ने**त्यविरोधदर्शिनः**, तैः **साधुभिः** कृतेषु शास्त्रेषु स्यादेव परस्परमनुरूपार्थता, पूर्वापरविरोधलव-विरहात्। अनुरूपार्थोऽस्त्येषामित्यन्वर्थिनस्तद्भावस्तत्ता, तया तत्पुरस्सरम्, तत्प्रधानानि **शास्त्राणी**त्याशयः **विरोधशील**ताप्रयोजकस्त्वाजन्माभ्यस्त-विरोधबहुलग्रन्थाभ्यासः, तच्छ्रद्धा च। तेषा**मबहुश्रुता**नां साधुशास्त्रादर्शनमपि

का निर्माण किया। मगर विरोध स्वभाव वाले, अबहुश्रुत जन इन शास्त्रों को देखते नही है और यह (न देखना) भी प्रशस्य बनता है॥११॥

परस्पर पूर्वापर विरोधी ऐसे शास्त्र की रचना तो दूर ही रहो, जो विरोध को देखते भी नहीं, ऐसे अविरोध के दृष्टा महात्माओंने परस्पर अन्वर्थयुक्त ऐसे शास्त्रों का निर्माण किया जिनमें विरोध का नामोनिशान नहीं, कडी परीक्षा में भी अग्नि से शुद्ध सुवर्ण की तरह वे अधिक तेजस्वी हो जाते है, जो पूर्णतया विनिश्चित और युक्ति से समृद्ध है।

मगर जो अल्पश्रुत जन है, थोडा बहुत पढ़कर अपने आपको विद्वान समज़ बैठा है, विरोध से भरपूर ग्रंथों को पढ़कर उन पर अटल श्रद्धा रखने से उसका स्वभाव भी विरोधमय बन चूका है, ऐसे लोग उन महान शास्त्रों से दूर रहते है। वे उनकों देखते ही नहीं। और हद तो तब हो जाती है कि 'हम ये सब नहीं पढ़ते' ऐसी बात गर्व के साथ कही जाती है और यह बात भी उन जैसे लोगों में प्रशंसापात्र बन जाती है। इससे अधिक विडम्बना क्या हो सकती है?

दुःख के साथ कहना पडता है कि इस परिस्थिति में तत्त्वजिज्ञासा की भी कोइ गुंजाइश नहीं। तो फिर तत्त्वान्वेषण और तत्त्वप्राप्ति की तो बात ही कहाँ रही ?

यहा श्लोक के प्रारम्भ में ही जो परस्परान्वर्थितया ऐसा कहा है,

तादृशां प्रशस्यमिति किं वक्तव्यम् ? नातः परा विडम्बनाः। न चात्र तत्त्वजिज्ञासागन्धोऽपि। दूरे तदवाप्तियत्नादि।

यद्वाऽन्योऽर्थः। **विरोधशीलाबहुश्रुतजन**स्य साधुशास्त्रेषु चतुर्धाऽऽचरणं सम्भवि,

(१) तेष्वपि विरोधाऽऽपादनेन तल्लाघवकरणम्,
विरोधशील इति विरोधापादनस्वभाव इत्यर्थग्रहणात्।

(२) तत्पठनानन्तरमौदासीन्येन तदवज्ञा।

(३) तददर्शनम्, तदद्वेषसचिवम्।

(४) मध्यस्थदृशा तदध्ययनेन तत्त्वावाप्तिः।

एष्वाद्यौ विकल्पौ निन्द्यौ। तुर्यस्तूत्कृष्टः। तृतीयोऽपि प्रशस्य इति, तत्त्वप्रवृत्तिप्रथमाङ्गत्वाददद्वेषस्य, न चाश्रुत इत्यकल्पनम्, ज्ञापकसद्भावात्,

---

उसका अर्थ है, परस्पर अनुरूप है अर्थ जिनका यानि जो कुछ भी कहा जाय उससे पूर्व या पश्चात् वक्तव्य का विरोध न हो, सब कुछ परस्पर संगत हो, ऐसे शास्त्र है परस्परान्वर्थि।

अब श्लोक की चरम पंक्ति का एक अन्य अर्थ देखे। पंक्ति है- नहीं देखता है यह भी प्रशंसापात्र है। विरोधशील अल्पश्रुत जन उन महान शास्त्रों के साथ चार प्रकार के बर्ताव कर सकते है -

(१) (यहा विरोधशील = हर जगह विरोध उठानेवाला) उन महान शास्त्रों में भी विरोध उठाकर उनका अपमान करे।

(२) उन्हें पढकर उनकी उपेक्षा-अवज्ञा करे।

(३) उनका दर्शन ही न करे और उन पर द्वेष भी न रखे।

(४) मध्यस्थता से उनका अध्ययन करके तत्त्व की प्राप्ति करे।

यहाँ प्रथम दो विकल्प तो निंदनीय है। चतुर्थ उत्कृष्ट है। तृतीय में मूलकार कहते है हम उनकी भी प्रशंसा करते है। जैसे कि उपदेशरत्नाकर में श्रीमुनिसुंदरसूरिजी ने कहा कि, ऊँट अंगुर को छोड़ देता है, मगर जो उसकी बुराइ करके निंदा नहीं करता उस ऊँट की भी मैं प्रशंसा

प्रशंसैवात्र तत्। महात्मनामस्थाने तद्विरहात्। तत एव कदाचित्तुर्यभङ्गा-वतार इति युक्तैव सेति।

यथाहु :- स्तुवे तमुष्ट्रं विजहाति गोस्तनीमसत्प्रलापैर्न तु निन्दतीह यः - इति, आपेक्षिकत्वात्, संयमस्थानवत्। तथात्रापि हीनापेक्षया स्तुत्यता,

तमेवाहु :- स्वकार्यतो योऽप्युपजीव्य दूषये - देतैः कवेर्वाचममुं च धिक् खलम् - इति।

प्रशस्यते मया शिष्टैर्वा इत्यध्याहार्यमत्र।।११।।

करता हूँ। (ऊँट को अँगूर के बजाय काँटो में प्यार होता है।)

इस तरह स्तुतिपात्र होना और निंदापात्र होना यह आपेक्षिक है। संयमस्थान पर चड़ते हुए जो स्थान विशुद्धिस्थान होता है, वही उतरते हुए संक्लेशस्थान बन जाता है। जैसे कि कोइ लड़का अपने से छोटे लड़के की अपेक्षा से बड़ा होता है, और बडे लड़के की अपेक्षा से छोटा होता है, यही आपेक्षिकता है। उसी तरह यहा भी समज़ना है। जिसे अच्छी बात पसंद नहीं, मगर जो उसकी निन्दा नही करता, वो भी अपने से भी जो हीन हो, उसकी अपेक्षा से तो स्तुतिपात्र ही है। उनसे भी जो हीन है उनका परिचय देते हुए आगे कहा है - जो अपने मतलब से - स्वार्थ से जिस पर गुज़ारा करता है, और फिर उस पर ही दोषारोपण करके कवि की वाणी की निन्दा करता है, ऐसे दुर्जन को धिक्कार हो।

चतुर्थ तो प्रशंसापात्र है ही। योगाचार्यों ने तत्त्वप्रवृत्ति का प्रथम अंग बतलाया है - अद्वेष। अद्वेष से युक्त अदर्शन भी इसी लिये प्रशस्य बन गया है। भले ही मूलकार ने केवल अदर्शन की ही बात करी, मगर उसकी प्रशस्यता से ही कम से कम उसमें अद्वेष की कल्पना तो करनी ही पडेगी। क्योंकि महापुरुषों अनुचित प्रशंसा नही करते । तीसरे विकल्प के माध्यम से ही कभी ना कभी चतुर्थ विकल्प का भी अवतरण हो सकता है, अतः तृतीय विकल्प स्थित की प्रशंसा भी समुचित ही है ।।११।।

अथ वादिवैषम्यमाविष्कुर्वन्नाह –

यदग्निसाध्यं न तदम्भसा भवेत्,
प्रयोगयोग्येषु किमेव चेतसा।
समेष्वरागोऽस्य विशेषतो नु किं,
विमृश्यतां वादिषु साधुशीलता।।१२।।

न ह्यभ्यासादिसाध्यं मनसैव सिध्यतीति प्रतिवस्तूपमया दर्शितम्। ततश्च स्वपरप्रशंसानिन्देऽनुचिते।

अथाभ्यासादिविरहे सर्वाण्यपि शास्त्राणि स्वपरपुरातननवीनानि समानानि, अज्ञातत्वेन निर्विशेषत्वात् ।

अतो नैतस्मिन् दशाविशेषे कस्यचिन्निषेवणमितरावज्ञा वा युज्यते,

अब वादिओं की विषमता को प्रगट करते हुए कहते है –

जो अग्नि से हो सके, वह पानी से नही होता है, प्रयोग करने योग्य में मन से ही क्याँ (हो सकता है?) समानों में अराग (उचित है) तो विशेष से क्यों ? वादीओं में सम्यक्वृत्ति का विचार करें।।१२।।

जो कार्य अग्नि से ही सिद्ध हो सकता है वो पानी से नहीं हो सकता, उसी तरह जो चीज़ प्रयोग करने योग्य है, उसमें केवल मन से कार्यसिद्धि नही हो सकती, उसका तो प्रयोग ही फलदायी बन सकता है।

दिवाकरजी कहना चाहते है कि पुरातनप्रेमीओं को अन्यदर्शनों का अभ्यास या उनकी परीक्षा नहीं करनी, उनके शास्त्रों के दर्शन तक नहीं करने, और उनकी निंदा करनी है और विरोध उठाना है। अपने शास्त्रों की भी परीक्षा नहीं करनी है, उन पर विचार नही करना है, और यहा तक के अज्ञात होते हुए भी उनकी दिल से प्रशंसा करनी है।

अब देखो कमाल, जब किसी का अभ्यास ही नहीं किया तब तो उनके लिये अपने – पराये सभी शास्त्र एक समान ही हो गये। अनजानों में भला कौनसा भेद ? वहाँ तो कौन अपना और कौन पराया ? तब तो सभी में अराग ही होना चाहिए था। महानिशीथसूत्र

तथा च पारमर्षम् –

जा पुण एगपक्खनिसेवणा सेसाण अवन्ना व, सा तत्तदंसणारओ न जुज्जइ – इति (महानिशीथे)।

ततश्च तेष्वरागः – माध्यस्थ्यमेव न्याय्यम्। अथ च तदपि न, पुरातने स्वकीये वा रागः, इतरेऽवज्ञा चास्ति, एवं च चिन्तनीयैव **वादिषु साधुशीलते**ति वक्रोक्तिः।।१२।।

अथ मुच्यतां परीक्षाऽऽग्रहः, अविषयत्वात्, इति प्रतितिष्ठते–

यथैव दृष्टं तपसा तथा कृतं,
न युक्तिवादोऽयमृषेरिदं वचः।
सुबुद्धमेवेति विशेषतो नु किं,
प्रशंसति क्षेपकथा किलेतरा ।।१३।।

आर्षमिदं तपोदृष्टानुसारि शास्त्रम्, नाऽत्र युक्तिवादावतारः ततश्चा–

में कहा भी है – 'जब तक तत्त्वदर्शन न हो, तब तक एक ही पक्ष का आदर और बाकी सबकी अवज्ञा, यह उचित नहीं।' फिर भी वादीओं की समानदृष्टि नही है। उन्हें विशेष रूप से कहीं राग है और कहीं द्वेष। अब आप ही विचार करो – वादीओं में कहा तक साधुशीलता है ? उनका यह बर्ताव कितना उचित है ? इस तरह वक्रोक्ति= व्यंगवचन के द्वारा वादिओं के पक्षपात के प्रति संकेत किया है।।१२।।

अब पुरातन – प्रेमी कहते है कि आप परीक्षा का आग्रह छोड दीजिए, यतः पुरातनों के वचन परीक्षा के विषय नही होते है –

'जैसा ही तप से देखा वैसा किया, यह युक्तिवाद नही, यह ऋषि का वचन है, अच्छी तरह ज्ञात ही है' – इस तरह विशेष से प्रशंसा क्यों करता है ? इस के अतिरिक्त निंदा की बाते है।।१३।।

यह तो जैसा ऋषिओं ने अपने तपजनित दिव्य ज्ञान में देखा वैसा ही निरूपण किया। अरे भाइ, यह तो महर्षि का वचन है, युक्तिवाद

विचारणीयता। इतश्च तदपरीक्ष्यता, परम्परागतबहुबुध**सुबुद्ध**त्वात्, न हि सर्वेऽपि ते पामराः। के वयं परीक्षाविधिदुर्विदग्धा इति। एवं च परम-श्रद्धेयमिदम्।

अथैतद्वक्तव्ये प्रथमैवारेका यत् **किं नु** स **विशेषत** एव प्रशंसति ? स्वाभिमतशास्त्रप्रशंसने किं शास्त्रकारगौरवमात्रं पुरस्करोति ? अत्रोत्तरः - **किलेतरा क्षेपकथा** - **किले**ति सस्मिताप्तवचनसूचकम् । **इतरा** - तदुक्तान्या **क्षेपकथा** - निन्दावार्ता। अयमत्राशयः, यदि वक्तृगौरवं विमुच्य माध्य-स्थ्येन प्रत्यक्षादिप्रमाणैः शास्त्रपरीक्षां कृत्वा यथार्थाभिप्रायो दीयते तदा स

नहीं। और आप इसका समीक्षात्मक अभ्यास करके उसकी परीक्षा करना चाहते हो ना ? वह काम तो कइ प्राचीन विद्वान कर चूके है। कितने सालों से यह शास्त्रों चले आते हैं, वे सब विद्वान बुझर्गों पागल थोडे ही थे ? इस लिये शास्त्रों की परीक्षा करने की कोइ जरुरत नहीं। यह सब सुबुद्ध है - परम्परागत विद्वानों द्वारा अच्छी तरह ज्ञात ही है। इस तरह यह सब परम श्रद्धेय है, अविचारणीय है, अटल सिद्धान्त है।

अब दिवाकरजी इस बात पर कहते है कि इसमें एक ही विशेष पहलू के आधार पर ही प्रशंसा की गइ है। वो है शास्त्रकर्ता का गौरव। प्रश्न इतना ही है, कि क्यूँ इसी दृष्टि से वह प्रशंसा करता है ?

इसका एक ही जवाब ज्ञात होता है कि अन्य दृष्टि से शास्त्र की युक्तिक्षमता - उसकी प्रामाणिकता - प्रत्यक्ष और अनुमान से शास्त्र की कसौटी - यह सब पहलूँ पर विचार करके यदि शास्त्र के बारे में अभिप्राय दिया जाय, तो शायद वो केवल क्षेपकथा - निंदा बन जायेगी।

आशय इस प्रकार का है - यदि वक्ता के प्रति गौरव के भाव को छोड़कर मध्यस्थता से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से शास्त्र की परीक्षा करके यथार्थ अभिप्राय दीया जाए तो वह निन्दारूप ही होगा।

निन्दारूपः सम्भवेत्। व्यवहाराघटनम्, पूर्वापरविरोधविसरः, भिन्नप्रयोजनापोदितता, असङ्गतिततिः, समाधानदौर्लभ्यम्, स्फुटं दुर्विहितत्वम् – इत्यादि पश्यतः सत्यवादिनः कुतस्तत्प्रशंसासम्भव इति।

सम्प्रदायसुधियां सुबुद्धत्वमपि तत्सदृशमेव – कर्तृगौरवैकनिबन्धनम्, न तु पारमार्थिकम्। अन्यथाऽन्यतरसंस्कारसम्भवात्।।१३।।

अथ परमार्थतोऽपि यैः पुरातनबुधैस्तत् सुबुद्धम्, तानधिकृत्याह–

कथं नु लोके न समानचक्षुषो,
यथा न पश्यन्ति वदन्ति तत्तथा।

जो बातें प्रत्यक्ष से ही बिल्कुल गलत साबित होती हो, जिस वचन की इमारत तर्क और युक्ति के आगे तूट पडती हो, जिसके अनुयायी को भी जीवन व्यवहार में उसका अनुसरण अशक्य ही हो, जहाँ पूर्वापर विरोधों की कोइ सीमा न हो, जहाँ विधि–निषेधों की कोइ सीमा न हो, जहाँ असंगतिओं का कोइ समाधान न हो, जिनके कइ विधान मूल उद्देश को ही चकचूर कर देते हो, उस वचनों पर का प्रामाणिक अभिप्राय निंदा के सिवाँ और क्या हो सकता है। इस लिये उसकी प्रशंसा करना चाहे उसे एक ही विशेष दृष्टि का स्वीकार करना पडेगा, जो है शास्त्रकारगौरव।

अब रही बात परम्परागत विद्वानों द्वारा शास्त्र के सुबुद्ध होने की, तो इसका जवाब इतना ही है कि जैसा यह आपको सुबुद्ध है, वैसा ही उनकों भी होगा। अर्थात् शास्त्रकार के उपर गौरव होने के कारण ही शास्त्र के सुबुद्ध है, तात्त्विक दृष्टि से नहिं। अन्यथा तो इन शास्त्रों की या विद्वानों की कोइ अन्य स्वरूप से ही हमे प्राप्ति होती।।१३।।

अभी जिन पुरातन विद्वानों ने उन शास्त्रों को परमार्थ दृष्टि से जाना है, उनके विषय में कहते है –

जगत में पुरातन विद्वानों साम्यदृष्टि वाले क्यूँ नही है ? जिसे

अहो न लोकस्य न चात्मनः क्षमां,
पुरातनैर्मानहतैरुपेक्षितम्।।१४।।

कथं न पुरातनानां साम्यदृष्टिस्वीकारः ? कस्मान्न तैर्माध्यस्थ्येन निष्पक्षपातं तत्त्वनिरूपणं कृतम् ? स्वप्रतिभाज्ञातं कस्मान्नोक्तम् ? कस्मादज्ञातमुदितम् ?

कैश्चिज्ज्ञाततत्त्वैरपि परवञ्चनपुरस्सरं स्वात्माऽप्यवसादितः।

स्वयमुन्मार्गगीभूय तत्प्रवर्तनं कृतम्। लोकात्मोभयाक्षममैतत्, तद्वि-

---

जिस प्रकार से देखते है उसे उस प्रकार से क्यूँ नही कहते ? अहो ! अभिमान के शिकार बने हुए पुरातनों ने अपनी और जगत के लोगों की क्षमा की उपेक्षा की।।१४।।

जगत में पुरातन विद्वानों ने साम्यदृष्टि का स्वीकार क्यूँ नहीं किया ? मध्यस्थता से तत्त्वनिरूपण करने का मार्ग क्यूँ नहीं चूना ? उन्होंने अपने ज्ञान से जो देखा वो ही क्यूँ न कहा? जो नहीं देखा वो क्यूँ कहा ? या तो वे स्वयं शास्त्र नही समजें – स्वयं तत्त्व नही पाया और या तो उन्होंने जानते हुए भी जगत को सही राह नहीं बताइ। इसी लिये या तो असंगत बातों का निरूपण किया और या तो परम्परा से चली आती ऐसी बातों का समर्थन किया।

इस तरह उन्होंने लोगों को प्रतारित किया ही– शठता से उन्हें ठगा ही, अपने आप को भी प्रतारित किया। यह तो एक ऐसे मार्गदर्शक की भूमिका हुइ, जो खुद उन्मार्ग पर चलकर लोगों को भी उन्मार्गगामी बनाता है। इस तरह लोगों का भी द्रोह किया – उनकी दया न आइ – उन्हें क्षमा न किया और अपने आपको भी क्षमा न किया।

प्रश्न होता है कि उन्होंने ऐसा क्यूँ किया, भला कोइ अपने आप का द्रोह करके अन्य को प्रतारित क्यूँ करे ? स्वयं उन्मार्ग पर चलकर लोगों को क्यूँ ठगे ? ऐसा निर्दय कृत्य क्यों करें? बुरा आदमी भी

द्रोहरूपत्वात्। निर्घृणकृत्यं च। सर्वोऽप्यात्मनीन इति हि विद्वत्प्रवादः। न मन्दोऽप्यत्रापवादः। तर्हि बुधेषु किं वक्तव्यम् ? अतस्तदसमञ्जसप्रवृत्तौ को हेतुः ?

उत्तरयति – **मानहतै**रित्यादि। तथा चाभिमानदण्डिताः पुरातना-स्तत्त्वप्राप्तिफलवञ्चिताः। अस्माकमध्वाऽसन्निति घोषणासत्त्वविकलाः, स्व-परहितमवगणयन्त्येते। इत्थं च तैर्लोकानामात्मनश्च कल्याण**मुपेक्षित**मेव। न हि मिथ्यात्वे तादृग् दुःखम्, यादृग् मिथ्यात्वप्राकट्य इति दुरन्तो मानविकारः।।१४।।

अपने आपको तो धोखे में नहीं ही डालेगा ना ? विद्वज्जनों का यह प्रवाद है कि सर्व जीव अपनी आत्मा का हित ही चाहते है। मन्दबुद्धि जीव भी इस बात में अपवादभूत नहीं है। फिर प्रबुद्ध जनों की तो क्याँ बात करे ? फिर उनकी ऐसी प्रवृत्ति का क्या रहस्य ?

अन्तिम पंक्ति में उत्तर देते है – पुरातनों अपने अभिमान के शिकार हो गये। शास्त्राभ्यास से सत्य की प्राप्ति होने पर भी उसके फल से वञ्चित रह गये। हम गलत है, हमारे कइ साल मिथ्या आचरण में गए, हमारा रास्ता गलत है, यहाँ से वापिस लोटना ही उचित है, यह समज़ में आने पर भी ऐसा करने में उन्हें अपना अभिमान रुकावट बन गया। ऐसा कहने में उन्हें अपनी इज्ज़त और गौरव की हानि महसूस हुई। उन्होंने जनकल्याण और आत्मकल्याण की उपेक्षा की।

अब तो अच्छी तरह पता है कि इस रास्ते पर चलने से कभी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं। फिर भी चलते रहो और चलाते रहो। कैसी विचित्रता ? गलत होने का कोइ दुःख नहीं, और गलत दिखने का – दुनिया में यह गलत है – ऐसे ज़ाहिर होने का असह्य दुःख। कैसी अभिमान की विडम्बना ! ।।१४।।

ततश्च जगद्विलोप इत्याह-

वृथा नृपैर्भर्तृमदः समुह्यते,
धिगस्तु धर्मं कलिरेव दीप्यते।
यदेतदेवं कृपणं जगच्छठै-
रितस्ततोऽनर्थमुखैर्विलुप्यते।।१५।।

डुभृञ् धारणपोषणयोरिति धातुपाठः। अहितेतरनिवृत्तीतरे च ते तत्त्वतः। तदभावे निष्फलमेष नृपाणां **भर्तृत्वमद**संवहनम्। अथ धर्म-स्वातन्त्र्यमनपराधः, नृपाणामधिकारः, न, तत्त्वानुपपत्तेः, गौणत्वात्तत्त्वादेः,

---

इसका परिणाम है जगत का विलोप, यह कहते है -

जगत के राजाओं हम प्रजा का पालनपोषण करते है, ऐसा अभिमान धारण करते है, यह वृथा है, व्यर्थ - निष्कारण है। क्यूँ कि वे उस विषम परिस्थिति से उसे बचा नहीं सकते।

राजाओं वृथा 'नाथ' होने का अभिमान रखते है, (ऐसे) धर्म को धिक्कार हो, (जिस से) कलह ही दीप्त होता है, यतः इस तरह बेचारा यह विश्व अनर्थ के प्रचारक ऐसे धूर्त्तों के द्वारा हर बाजु से विनष्ट होता है।।१५।।

धातुपाठ में डुभृञ् धातु का अर्थ है पालन-पोषण। उन्मार्ग से - अहित से बचाना - रक्षण करना यही पालन है और सन्मार्ग - हित में जोडना यही वास्तविक पोषण है। यदि यह न कर सके तो उसे भर्ता कहलाना उचित नहीं है।

कोइ प्रश्न करे कि भाइ ! जो भी हो, धर्म तो कर रहे है ना ? फिर इसमें कौन सी बुराइ है? हर किसी को जो मन माना सो वो करे, यही तो व्यक्तिस्वातन्त्र्य है। इसमें राजा क्या करे? इसमें कौनसा अपराध है ? इससे क्या नुकशान है ?

इसका उत्तर देते है - यह वास्तव धर्म नहीं, अपने मन से

मुख्यत्वाच्च मानादेः। धिक् तं **धर्मा**भिधेयम्। न हि व्याजादिह धर्मो भवति, किन्तु शुद्धाशयात्। रागादिमोचकादेवानल्पतरतदुद्भव इति जला-दनलोत्थानम्।

तन्नायं धर्मः, अपि तु **कलि**दीपनम्। विवाद एव तत्त्वावगमाभावपिशुन इति तत्त्वविदः। यदाहुः- यथावस्थितविज्ञाततत्स्वरूपास्तु किं क्वचित्। विवदन्ते महात्मानस्तत्त्वविश्रान्तदृष्टयः? – इति।

विवादत्यागः खलु बोधपरिणतिलिङ्गमित्याचार्याः।

यदित्थं **कृपणं** कृपापात्रं दयास्पदमिति यावत्, **जगत् अनर्थमुखैः**

माना हुआ धर्म है। ऐसे धर्म को भी धिक्कार हो। जहाँ तत्त्व गौण हो और अभिमान मुख्य हो, सत्य गौण हो और प्रतिष्ठा मुख्य हो, आराधना गौण हो और आडंबर मुख्य हो, कल्याण गौण हो और स्पर्द्धा मुख्य हो, मोक्ष गौण हो और स्वार्थ मुख्य हो उसे धर्म कहना ये भी धर्म का बड़ा अपमान है।

इससे तो परस्पर वैर–मत्सर–इर्ष्या की भावना बढ़ती है। झगडे होते है। 'आत्मा रागद्वेष की भावना से मुक्त हो' यही तो धर्मका फल है। मगर जब धर्म से ही राग–द्वेष प्रबल हो तो उसे क्या कहना ? यह तो पानी में से अग्नि को उत्पन्न करने के समान है।

कलह ही बताता है कि ये धर्म नहीं। जिन्हें वास्तव में तत्त्वप्राप्ति हुई हैं वे कभी विवाद में नहीं पडते। कहा भी है कि- जो पदार्थ के यथावस्थित स्वरूप को जानते है, जिनकी दृष्टि तत्त्व में ही प्रतिष्ठित है, ऐसे महात्मा क्याँ कभी विवाद करते है ?

श्री हरिभद्रसूरिजी ने ललितविस्तरा नाम के ग्रंथ में तो कहा है कि विवाद का त्याग यह ज्ञान की परिणति का परिचयचिह्न है। जान बुझकर भोली जनता को मोहित करके धर्म के नाम पर कलह–विवाद–वैमनस्य का निर्माण करना इससे बड़ा क्या अपराध हो सकता है ?

शठैरितस्ततो विलुप्यते, तद् व्यर्थो नृपादेर्भर्तृत्वमदः, **धिक्** च **धर्मम्**। विसंवादापन्नान्तःकरणबाह्याचारवत्त्वमिति शठत्वम्। स्वमुखनिर्गतैर्वचनैः स्वपरानर्थं कुर्वन्तीति हेतौ फलारोपादनर्थो मुखाद् मुखे वा येषामित्यनर्थमुखाः।।१५।।

तदिदं मुग्धजगति शाठ्यम्, अधुना तत्त्वज्ञसकाशे तदाह–

यदा न शक्नोति विगृह्य भाषितुं,
परं च विद्वत्कृतशोभमीक्षितुम्।
अथाप्तसम्पादितगौरवो जनः,

इसे व्यक्तिस्वातन्त्र्य कहना यह तो गुंडागर्दी को व्यापार कहने जैसा है।

इस तरह यह दयापात्र जगत शठों के द्वारा चारों और से लूँटा जा रहा है। उन शठों के वचन अनर्थकारि है। मानो के उनके मुख से अनर्थ ही नीकलते है। अन्दर कुछ और बहार कुछ वही तो शठता है। तत्त्व को जानते हुए भी मिथ्या प्ररूपण करे उससे बड़ा शठ कौन हो सकता है ? धर्म के मोहरे को धिक्कार हो, यह तो धर्म के नाम पर कलह दीप्त होता जाता है। सच मुच...... मैं पालनहार हूँ, ऐसा घमंड रखना किसी के भी लिए योग्य नहीं। मूल श्लोक में रहे 'अनर्थमुखैः' के दो अर्थ हो सकते है :- (१) खूद के मुख से निकले हुए वचनों से स्व और पर का अनर्थ जो करते है, वे अनर्थमुख। इस व्युत्पत्ति में हेतु में फल का उपचार किया गया है। (२) अनर्थ है मुख से - मुख में जिन्हों के, वे अनर्थमुख।।१५।।

यह तो भोले जगत के साथ जो चालबाझी करते है वो कहीं, अब जो तत्त्ववेत्ताओं के पास करते है वो बताते है -

जभी तत्त्वज्ञ के साथ वाद करने में असमर्थ होता है, विद्वानों ने रचे हुए शास्त्रों को देखने में असमर्थ होता है (तभी) अपने मानें

परीक्षकक्षेपमुखो निवर्तते।।१६।।

विगृह्य – विग्रहं कृत्वा – तत्त्वज्ञपरीक्षकेण समं वाक्सङ्ग्रामं कृत्वा **भाषितुम**समर्थः, बुधविहितपूर्वापराविरोधिप्रमाणसिद्ध–युक्तिसहं **परं** – परमं श्रेष्ठमिति यावत्, शास्त्रं द्रष्टुमप्यशक्तः, यद्वा **परं** – परीक्षकं **विद्वद्–गुरुकृतशोभम्**– तत्सम्पादिततत्त्वज्ञतादिविभूषं द्रष्टुमप्यप्रत्यलः स्वाभि–मताऽऽप्तवितीर्णगौरवोऽलीकाचार्यादिपदादिमिथ्याभिमानः **परीक्षकस्य क्षेपः** – निन्दा तत्प्रधान**मुखो**ऽनवरतं तदवर्णवादं विब्रुवाणस्तत्सकाशा**न्निवर्तते**,

---

हुए आप्तजन से गौरव प्राप्त करके वह परीक्षक की निंदा करता हुआ वहाँ से चला जाता है।।१६।।

जो तत्त्वज्ञ के साथ विग्रह करने वाणी का संग्राम करके बोलने में असमर्थ हो जाता है। विद्वानों द्वारा विहित पूर्वापर अविरुद्ध, प्रमाणों से सिद्ध, युक्तियुक्त शोभास्पद परम शास्त्र से अभिभूत होके या उससे भयभीत होके उसे देखने में भी असमर्थ हो जाता है। अथवा तो पर = परीक्षक, उसके विद्वान गुरु द्वारा उस की शोभा बनाइ जाये, अर्थात् उस को तत्त्वज्ञता आदि गुणों से अलंकृत किया जाये, उसे देखने में भी असमर्थ हो जाता है, ऐसा व्यक्ति भी अपने आप को महान समझता है, अपने माने हुए आप्त जन – बुझर्गों द्वारा उसका गौरव हुआ हो – झूठी विद्वत्ता आदि की कीर्ति मिली हो, आचार्यादि पदवी आदि रूप मान–सम्मान मिला हो, उस से वह मिथ्याभिमान रखता है तथा अक्कड रहता है।

और अपनी इस असमर्थता पर पर्दा डालने के लिये उन तत्त्वज्ञ परीक्षक की निंदा करता हुआ उनके पास से भाग खडा होता है क्यूँ कि वह तत्त्वज्ञ के साथ वाद करने में असमर्थ भी है और करे तो पराजय से अपने अपयश का उसे भय भी है। बिल्कुल वैसे ही, कि जैसे अंगुर खाने में निष्फल जाने वाला लोमडी ये अंगुर तो खट्टे है,

तद्विग्रहाद्यसमर्थत्वात्, स्वगौरवविलयभयाक्रान्तत्वाच्च। अम्लरसा द्राक्षा इति पलायनकृच्छृगालवत्।।१६।।

अथ क्षेपोदाहरणान्येवाह –

त्वमेव लोकेऽत्र[1] मनुष्य ! पण्डितः,
खलोऽयमन्यो गुरुवत्सलो जनः।
स्मृतिं लभस्वारंभ[2] नेति शोभसे[3],
दृढश्रुतैरुच्छ्वसितुं न लभ्यते।।१७।।

हे **मनुष्य** ! – हे प्राकृतमनुजमात्र ! इति न्यक्कारोद्बोधनम्। त्वन्मत्याऽखिलविश्वे **त्वमेवैको** विद्वान्, त्वदन्यः – अस्मत्सदृशो **गुरुवत्सलः**

ऐसा कहकर चला गया।

खुद तो परीक्षा करनी नही, जो परीक्षक है उनकी अनुमोदना भी नही करनी, उनका प्रतिक्षेप करने का – उनकी बात पर पडकार करने का सामर्थ्य नहीं, स्वयं कोइ परीक्षा करने के लिये ज्ञान, सत्त्व, उद्यम, माध्यस्थ्य नहीं, फिर भी सिर तो ऊंचा ही रखना है। विद्वान से भी महान कहलाना है, इस लिये तत्त्वज्ञ परीक्षक को ही गाली देते देते वहाँ से सरक जाता है।।१६।।

अब वो जो क्षेपकथा – निंदा करता है, वो कहते है –

मनुष्य ! तुम ही इस विश्व में पंडित हो, यह अन्य गुरुवत्सल जन दुष्ट है (ऐसा तुम समजते हो।) स्मृति को प्राप्त करो, आरंभ करो, इस तरह नही शोभते हो, दृढ श्रुत के धारको के साथ साँस भी नही ले सकते।।१७।।

अरे ! एक आम आदमी ! तुम समज़ते हो के सारे संसार में तुम एक ही विद्वान हो। और जिन्हें बुझर्गों पर – पुरातनों पर वात्सल्य–स्नेह आदरभाव है, ऐसे हम जैसे लोग तो तुम्हारी दृष्टि मे दुर्जन ही

१. क,ख– ०केऽद्य मनु०। २. क,ख– ०रम ने०। ३. ख– ०भने।

– पुरातनपुरुषेष्वादरवान् त्वदभिप्रायेण **खलः**– दुर्जनप्रायः। अहो ! ते पण्डितमानिता। मुञ्चैनं गर्वम्। **स्मृतिं लभस्व** – गुरुपरम्पराप्राप्तशिक्षं तदुपकारभारावनतं स्वं स्मर।

ततश्च त्वमप्यस्मद्वत् तद्वत्सलो भव, **आरभ**–तदादरादेः प्रारम्भं कुरु। **इति न शोभसे** – यादृशं तु तवाधुना चेष्टितं तथा तु नैव शोभां प्राप्नोषि, न खलु गुर्वाज्ञाविचारः शिष्यविभूषणाय। **दृढश्रुतैः** प्रबलज्ञानैर्गुरुभिः सह तादृशै**रुच्छ्वसितुमपि न लभ्यते**, आस्तां तद्वचः परीक्षितुम्। यद्वा **दृढश्रुतैः** – अत्यन्तं शास्त्रशुद्ध्यादृतैः – युक्तिभिस्तत्परीक्षणपरायणै**रुच्छ्वसितुं** धर्मक्षेत्रे

है। अहो ! आपकी पंडिताई !

यहाँ मनुष्य = एक आम आदमी मात्र, यह तिरस्कारसूचक संबोधन है।

अरे.... अपनी कल्पनासृष्टि से बाहर नीकलो और मिथ्याभिमान छोड़ के अपने आपको याद करो, तुम कोइ आकाश से नही टपके, इसी गुरुपरम्परा से तुमने शिक्षा प्राप्त की है। बचपन से उनकी ही पूजा कि है, तुम्हारे बाप–दादाओं ने भी इन्हे ही परमगुरु माना है। तुम जो कुछ भी हो, वह उनके ही प्रभाव से हो, यह सब याद करो, उनके उपकार को याद करो और तुम भी हमारी तरह उन पर वात्सल्य रखना – आदरभाव रखना प्रारंभ करो। बाकी तुम जिस तरह का बर्ताव कर रहे हो, इस तरह तुम जरा भी शोभायमान नहीं हो रहे हो। ये सब मनमानी और तर्कवितर्क तो तुम्हारी नामोशी है। गुर्वाज्ञा के विषय में विचार करना, यह शिष्य के हित के लिए नही होता।

एक बात ध्यान में रखना, जो दृढ श्रुत है – जिनका ज्ञान शक्तिशाली है उनके सामने वाद की तो क्या बात, उनके साथ साँस लेना भी तुम जैसो के लिये नामुमकीन है।

अथवा तो जो दृढता से श्रुत का ही आग्रह रखते है, शास्त्र

जीवितुमपि **न लभ्यते** – न शक्यते, इति मुच्यतां दुराग्रहः।।१७।।

अन्यदाह –

परेऽद्य जातस्य किलाद्य[1] युक्तिमत्,
पुरातनानां किल दोषवद्वचः।
किमेव जाल्मः कृत इत्युपेक्षितुं,
प्रपञ्चनायास्य जनस्य सेत्स्यति।।१८।।

पुरातनापेक्षयात्यन्तं बालसदृशस्यास्य वचो युक्तिपूर्णम्। **पुरातनानां** किल दोषयुक्तं वचनमिति त्वं मन्यसे। **किं** नु विधात्रा त्वादृशो **जाल्मः** – दुर्जनशिरोमणिः **कृतः** – सृष्टः ? इत्यादिप्रलापः क्षेपकृतः परीक्षकोपेक्षायै विश्वप्रतारणाय च सिद्ध्येदित्यर्थः।।१८।। (किमेवेत्यत्रैवकारस्तस्या–

की परीक्षा में ही तत्पर रहते है, श्रुतज्ञान को युक्ति से तोलते है – वे धर्मजगत में साँस ही नहीं ले सकते। उनका आध्यात्मिक क्षेत्र में जीना भी मुश्किल है, इस लिये तुम अपना कदाग्रह छोड़ दो।।१७।।

इन सब क्षेपकथा का उत्तर और समाधान तो इसी द्वात्रिंशिका का पूर्वापर भाग है, इस लिये उस पर अभी कुछ न कहते हुए अन्य क्षेपवचनों का उल्लेख करते है –

आज–कल उत्पन्न हुए बालक के वचन युक्तियुक्त है, प्राचीनों के वचन दोषयुक्त है। ऐसा कहने वाले दुष्ट को क्यूँ बनाया गया ? इस तरह उपेक्षा करके जगत को मोहित करने में वह जन सफल होता है।।१८।।

अरे.... जरा देखो तो सही, आज–कल का पैदा हुआ यह बच्चा....आज इसकी बात ही युक्तियुक्त है। प्राचीन पुरुषों का वचन तो दोष वाला है.... यही कहना चाहते हो ना ? भगवानने ऐसे बदमाश को क्यूँ बनाया.... हे भगवान !.... (इस व्याख्या में 'किमेव' यहाँ पर

---

१. क– किलास्य यु०।

जनिरेवोचित इत्यभिप्रायतः)

तदेवं पुरातनप्रेष्यव्यामोहितविश्वे परीक्षकदुष्काल इत्याह–

त्रयः पृथिव्यामविपन्नचेतसो,[1]
न सन्ति वाक्यार्थपरीक्षणक्षमाः।
यदा पुनः स्युर्बृहदेतदुच्यते,
न मामतीत्य त्रितयं भविष्यति॥१९॥

पक्षपातशस्त्रेण न नष्टं चित्तं येषां **तेऽविपन्नचेतसः** शास्त्रवाक्यार्थ-परीक्षासमर्थास्तेऽखिलक्षितौ त्रयोऽपि न। यदा त्रयस्तु स्युस्तदैतत्स-ङ्ख्याऽप्यतिमहती। एतद्वचनमप्यश्रद्धेयप्रायमभिनिवेशोदितं रभसोक्तं वा

जो एवकार है उसका अन्वय ऐसे बदमाश को उत्पन्न ही नही करना चाहिए ऐसा किया गया है।)

इस तरह परीक्षक की तर्कपूर्ण बातों की उपेक्षा करके उसे उड़ा देने में और जगत को मोहित करने के लिए वह निंदक सफल हो जाता है ॥१८॥

इस तरह पुरातनप्रेमीओं से व्यामोह प्राप्त इस विश्व में परीक्षकों का दुष्काल है.... इसी बात को पेश करते है–

वाक्यार्थ की परीक्षा करने में समर्थ, अविनष्ट चित्त वाले, ऐसी तीन व्यक्ति भी पृथ्वी पर नही है। यदि है, तो यह अतिशयोक्ति है, (तथापि) मुझ से अतिरिक्त तीन नही होंगे॥१९॥

जिनका चित्त पक्षपात से विनष्ट नहीं हो गया हो, जो वाक्यार्थ की परीक्षा में समर्थ हो, परीक्षारूप अग्नि में शास्त्ररूप सुवर्ण की कसौटी कर सके, ऐसे मध्यस्थ विद्वान् सारी धरती में तीन भी व्यक्ति नहीं।

शायद कोइ कहे के तीन तो होगे, तो यह भी अविश्वसनीय बात है, अभिमान से कही हुइ बात है, बिना सोचे-समझे की हुइ एवं

---

१. ख– ०व्यामपिपन्न०।

नीत्युल्लङ्घनपरमिति **बृहद**धिकमुच्यते। तथाप्येतन्मम विश्वासः, यत् त्रयोऽपि यदि स्युस्तदा तेऽपि **न मां** विना, मत्सहिता एवेत्याशयः, मद्विना तु द्वावेव भविष्यत इत्यतिदौर्लभ्यं परीक्षकाणाम्, प्रायः सर्वेषां विचारालसत्वादिति हृदयम्।।१९।।

इत्थं च बाधकाभावाद्युक्तिरिक्तेष्वप्यनल्पादरः, ततश्च यत्तच्छास्त्र-सृष्टिना सर्वज्ञतुल्यतेत्यत्राह –

पुरातनैर्यानि वितर्कगर्वितैः,
कृतानि सर्वज्ञयशःपिपासुभिः।
घृणा न चेत् स्यान्मयि न व्यपत्रपा,
तथाहमद्यैव न चेद् धिगस्तु माम्।।२०।।

विविधा विपरीताः – युक्तिविरुद्धा वा तर्काः – **वितर्का**स्तै**र्गर्वितैः**–

नीति का अतिक्रमण करनेवाली बात है, बहुत बडी बात है, यह भी आश्चर्यकारी है। मगर मैं इतना तो ज़रूर कहना चाहूँगा कि वे तीन भी मेरे सिवाँ न होंगे। यानि कि मेरे अलावा तो दो ही होंगे, क्योंकि परीक्षक तो अति अति दुर्लभ है। सारी दुनिया तो आँख बंध करके हा जी हा करने में ही विद्वान है।।१९।।

इस तरह परीक्षकों के अभाव में निर्भयता से जिसे जो जी चाहा वो शास्त्रो में लिखा दिया। अंधश्रद्धालु जगत उन शास्त्रकारों को ही सर्वज्ञ मानने लगा। ऐसे शास्त्र रचने में कोइ दुष्करता नहीं थी, यह कहते है –

वितर्कों से गर्वित, सर्वज्ञ – यश के प्यासे ऐसे प्राचीनों ने जो किया, उस तरह मैं आज ही कर सकता हूँ, यदि मुझ में दया या लज्जा न होती तो, यदि (मैं ऐसा) न (करूँ तो) मुझे धिक्कार हो ।।२०।।

विविध या युक्तिविरुद्ध तर्कों से पुरातनों ने अपने आपको सर्वज्ञ कहलाये ऐसी कीर्ति की तृष्णा से जो शास्त्र बनाये, वैसे शास्त्र तो

अभिमानिभिरयं **सर्वज्ञ** इति **यशो** मुग्धलोककृतं त**त्पिपासुभिः** – तत्सतृष्णैः **पुरातनैर्यानि** शास्त्राणि **कृतानि, अद्यैव** – अनायासेन लीलयैवाल्पसमयेनैव **तथा** – तादृशानि शास्त्राणि कर्तुमहं क्षमः। क्रियन्तां तर्हीत्यत्राह – **न चेन्मयि घृणा** – मुग्धजगज्जीवानुकम्पा, न चेच्च **व्यपत्रपा** – अन्यतः त्रपा लज्जा अपत्रपा (हैम), विशेषेणापत्रपा व्यपत्रपा – सर्वज्ञकीर्तितृष्णया जगद्द्रोहपातकभिया सशूकत्वेन च गुर्वादिशिष्टजनेभ्यः सलज्जता। द्वयमेतन्मम तादृशशास्त्रसर्जने बाधकमित्याशयः। **न चेत्** करोमि तदा सत्यामपि शक्तौ सर्वज्ञयशोवञ्चितं मां **धिगस्तु** – इति वक्रोक्तिः, परोक्षाक्रोशश्चेति।।२०।।

अथालमनेनात्मविक्रोशनेन भूयतां भवताऽपि सर्वज्ञेनेत्यत्राह –

[१] **कृतं न यत् किञ्चिदपि प्रतर्कतः,**

मैं आज ही बिना आयास बना सकता हूँ, यदि मेरी जगत के जीवों प्रति दया या पापसेवन में लज्जा न होती तो। यानि मैं सर्वज्ञ हूँ, ऐसी कीर्ति मुझे मिले, इस तृष्णा से कही मुझ से विश्व का विद्रोह करने का पाप न हो जाये, इस भय से तथा मैं धृष्टतारहित हूँ, अतः वैसा पाप करने में गुरु आदि शिष्ट जनों से लज्जा का भी अनुभव करता हूँ। ये दो चीज़ ही मुझे ऐसे शास्त्र के निर्माण करने से रोक रही है। अरे... मैं ये क्याँ कर रहा हूँ, इतने सस्ते में इतना बड़ा गौरव मिल रहा है, और मैं उसे गवा रहा हूँ.... ओह.... मुझे धिक्कार हो। इस तरह वक्रोक्ति– व्यंग वचन से पुरातनों के दोष प्रति दिवाकरजी परोक्ष आक्रोश व्यक्त कर रहे है।।२०।।

यदि कोइ कहे कि, भाइ, इस तरह अपने आपको क्यूँ दाँट रहे हो ? आप भी उनकी तरह सर्वज्ञ बन जाओ ना ? इसका उत्तर देते है –

उत्कृष्ट तर्क के बिना किया हुआ शास्त्र भी उन्हीं शास्त्रों की

---

१. ख– कृति च यत्कि०।

स्थितं च तेषामिव [1]तन्न संशयः।
कृतेषु सत्स्वेव[2] च लोकवत्सलैः
कृतानि शास्त्राणि गतानि चोन्नतिम्॥२१॥

न संशयः, भवदभिप्रायोऽपि कथञ्चित्समीचीन एवेत्याशयः। **प्रतर्कः**- उत्कृष्टयुक्तिः, ततो **यच्छास्त्राभिधानं न कृतम्**, ततश्च युक्तिविकलम्, अत एव **यत्किञ्चिदि**ति। तदपि तेषामिव सर्वज्ञयशःपिपासुकृतग्रन्थानामिव **स्थितम्** - मुग्धलोके प्रतिष्ठां प्राप्तम्। ततश्चोपादेयं भवदभिप्रायेण तादृग्-ग्रन्थसर्जनमिति।

किन्तु नायमेकान्तः, तादृग्ग्रन्थेषु **कृतेषु**-विहितेषु **सत्स्वेव** जन-कल्याणकामिभिः शासन-त्राणशक्ति-युक्तानि परमार्थशास्त्राणि **कृतानि**-

तरह प्रतिष्ठा पाया है, इसमें कोइ संदेह नहीं। यह शास्त्रों होते हुए भी जनकल्याण प्रेमीओं ने शास्त्रों रचे, जो उन्नति को पाए है ॥२१॥

हाँ, इसमें कोइ संशय नहीं, कि जो कुछ भी प्रकृष्ट तर्क - उत्कृष्ट युक्ति के बिना शास्त्र किया गया है, वो उन सर्वज्ञ माने जाने वालों के शास्त्रों की तरह प्रतिष्ठा पाया है। इस लिये आप भी मुझे ऐसे शास्त्र रचने के लिये प्रेरित करे ये आपकी दृष्टि में उचित ही है।

मगर ऐसे शास्त्र प्रतिष्ठा पाते ही है ऐसा एकान्त नहीं है। मैं आपको एक बात कह देना चाहता हूँ कि ऐसे शास्त्र बनाए हुए होते ही जनकल्याणकारीओं ने वास्तव शास्त्रों का निर्माण किया, जो तर्क और युक्ति से परिपूर्ण थे। जो शासन करके रक्षा करे वही वास्तव शास्त्र है - **शास**नात् **त्रा**णशक्तेश्च शास्त्रम्। ऐसे शास्त्र भी उन्नति को पाये, आदरणीय और आचरणीय बने, कल्याण के हेतु बने, क्योंकि जगत में परीक्षक, तत्त्वजिज्ञासु एवं सत्यान्वेषीओं का सर्वथा अभाव नहीं

१. क,ख- तं न। २. ख- ०व हि लो०।

ग्रथितानि, अथ च **तेऽप्युन्नतिं गतानि**। यतो दुष्कालेऽपि न तत्त्वपिपा-स्वत्यन्ताभावः। तदादृतिरेव तत्त्वत उन्नतिः। न चोपयुज्यते तत्त्वचिन्तायां मुग्धाभिप्रायः। एवं च लोकवत्सलपदवीचरोऽहं निःस्पृहो मुग्धविश्वविर्ती-तीर्णसर्वज्ञत्वादियशसीति।।२१।।

सैव पदवी स्वपरकुशलजननी, अपरा तु यशःपिपासा पीडाविवा-दादिकालुष्यकरीत्याह –

जघन्यमध्योत्तमबुद्धयो जना,
महत्त्वमानाभिनिविष्टचेतसः।
वृथैव तावद्विवदेयुरुत्थिता,
दिशन्तु लब्धा यदि कोऽत्र विस्मयः ?।।२२।।

मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमविशेषतारतम्यापादित**जघन्या**दिमतयो जना

है। ऐसे शिष्टपुरुषों से मान्यता पाना वही पारमार्थिक उन्नति है। उसके सामने सारी दुनिया का भी यदि विरुद्ध अभिप्राय हो, तो भी उसकी कोइ किंमत नहीं।

इस लिये मैं सर्वज्ञ जैसा बनके पूजा पाउँ, इस लिये युक्तिरहित शास्त्र बनाने मैं आज भी तैयार नहीं हूँ। मैं तो उन्ही जनकल्याणकारीओं के मार्ग पर चलना चाहता हूँ। ।।२१।।

वही मार्ग स्व-पर का कल्याण करता है, अन्य तो यश की तृष्णा से होनेवाली पीडा को उत्पन्न करता है, एवं विवाद आदि की कलुषता पैदा करता है। यही बात कहते है-

महानता के अभिमान से अक्कड मन वाले, जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट बुद्धिवाले, विवाद के लिये सज्ज, ऐसे लोग व्यर्थ ही विवाद करते है। तत्त्वज्ञ जन बताये यदि यहाँ कोइ विस्मय हो।।२२।।

जितने मस्तिष्क उतनी ही बुद्धिया होती है। सबके अपने अपने अभिप्राय होते है। उसमे भी मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की

विभिन्नाभिप्रायाः, मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नेति नीत्या। ते च सर्वेऽपि सर्वज्ञंमन्या महत्त्वाकाङ्क्षिणोऽभिमानमथिताः सन्मानेच्छवश्च स्वमेवोत्कृष्टं ख्यापयन्तस्तत्त्वविमुखाः परेषु स्वाभिप्रायाङ्गीकारणबद्धकक्षाः परस्परविरुद्ध**मुत्थिताः** – वाक्सङ्ग्रामसज्जास्**तावद् विवदेयु**रेव। स च विवादो व्यर्थः, अन्यतमस्यापि जयेच्छानिवर्तनपराजयस्वीकारयोः कल्पान्तेऽप्यसम्भवात्।

अथैवं स्थिते भवन्त एव **दिशन्तु** – कथयन्तु, यदि भवतां मध्ये कोऽपि **लब्धा**– तत्त्वावगमलाभवान् तत्त्वज्ञ इति यावत्। य**द्यत्र को**ऽपि **विस्मयः**, किमप्यत्राऽऽश्चर्यम्, एतादृक्परिस्थितौ तु व्यर्थः सदातनश्च विवाद एव, नान्यत् किञ्चित् – इत्येषामनुरूपमेवेति।।२२।।

तरतमता से किसीकी जघन्य, किसीकी मध्यम और किसीकी उत्कृष्ट मेधाशक्ति होती है। मगर सब खूद को सर्वज्ञ मानते है, सबको महान दिखलाना है। सबको अभिमान है, सन्मान पाने की कामना है, और एक दुसरे के विरोध में खडे होकर बेकार का विवाद–झगडा करते रहते है। किन्तु विवाद व्यर्थ है क्यूँ कि दोनों को जितना ही है और पराजय का स्वीकार करना ही नही है। कल्पान्त में भी वे अपने इस निश्चय से पीछे हट नहीं करना चाहते।

वे खूदको ही महान कहते है, तत्त्व से विमुख है, दुसरों को अपना अभिप्राय स्वीकार कराने में मश्गुल है।

कैसी विचित्रता ! आप ही बताइये, यदि आपमें कोइ लब्धा – तत्त्वज्ञानी हो। क्या ऐसा विवाद हो उसमें कोइ आश्चर्य है ?

जहाँ हर कोइ अपने आपको सर्वज्ञ ही समझते हो और एक दुसरे पर अपनी बात ठोक ठोक के बिठाने की अभिलाषा और प्रयत्न हो। तत्त्व की कोइ परवा न हो और सबको ही नायक बनना हो, उस परिस्थिति में विवाद के अलावा और हो भी क्या सकता है ?

नैवं किमपि फलमन्यत्र सङ्क्लेशादिति तत्त्वान्वेषणमेव श्रेय इति तद्विषयमुपदर्शयन्नाह –

अवश्यमेषां कतमोऽपि सर्ववि–
ज्जगद्धितैकान्तविशालशासनः।
स एष मृग्यः स्मृतिसूक्ष्मचक्षुषा,
तमेत्य शेषैः, किमनर्थपण्डितैः?॥२३॥

एषामिति बुद्धिस्थसर्वदर्शनप्ररूपकाणाम्, तेषां मध्ये **कतमोऽपि**– कोऽप्येक एव सर्वज्ञः, परस्परविरोधेऽन्यतमस्यैव तत्त्वसम्भवात्। किमस्य लक्षणमित्यत्राह – **जगद्धितैकान्तम्**– विश्वकल्याण एवैकोऽन्तो निश्चयो यस्य तत्। तथा **विशालं शासनं** यस्य सः। **विशाल**मिति विस्तीर्णम्।

विवाद भी शाश्वत ही होगा और यह उन लोगों के अनुरूप ही है॥२२॥

इस तरह विवाद करने में कोइ भी फल नही, सिवाँ कि सङ्क्लेश। इस लिये विवाद छोड़कर तत्त्व की खोज़ करे यही श्रेयस्कर है। यह खोज़ कैसे करनी उस पर दिग्दर्शन करते है –

अवश्य इन में से ही कोइ एक सर्वज्ञ है, जिस के शासन में विश्वकल्याण का निश्चय है, जिस का शासन विशाल है। स्मृति और सूक्ष्मदृष्टि से इस सर्वज्ञ का अन्वेषण करना चाहिये। उसे पाकर, अवशिष्ट, अनर्थ करने में निपुण, ऐसे जनों का क्याँ काम है ?॥२३॥

हमारे सामने जगत के सभी दर्शन के प्रणेताओं खड़े है ऐसा ध्यान करो। ये सभी महानुभावों को देखो। बस, इन्ही महानुभावों में से एक ही सर्वज्ञ है, यह बात निश्चित्त है क्यूँ कि परस्पर विरोध होने से एक ही तत्त्व(सत्य) हो सकता है। सर्वज्ञ ही विश्व का कल्याण करता है। उसका ही शासन विश्व में हितकर है, और उनके शासन ने हि जगत का हित करने का एक मात्र निश्चय किया है। (एक ही है अन्त = निश्चय जिसका वह एकान्त।) यही शासन विशाल है

उदाराशयमित्यर्थः। न यत्र मत्सरादि, विवादः, प्रसह्यकरणम्, कस्यचि-न्मर्मद्योतनं वा। न हि जगति सर्वथैव किमप्यसत्यम्, इति परोक्ते सत्य-त्वप्रयोजकमन्वेष्य तद्वचनसमाधानं यत्र, न तु खण्डनैकवृत्तिता, तत् खलु विशालशासनम्। तत्र तु सर्वनयसमन्वयः, सर्वजीवजीवनस्वातन्त्र्यम्। मानसपीडाया अपि परिहारः, सूक्ष्मतमाहिंसार्थमखिलविश्वसूक्ष्मतमजीवस्प-ष्टनिरूपणम्। न यत्र स्वकीयपरकीयेत्यादिक्षुद्रता, अत एवैकोऽपि जीवो न तत्कारुण्यविषयापवादः । तदिदं विशालं शासनम्।

न खलु तादृश**जगद्धितैकान्तविशालशासन**प्रणेताऽसर्वज्ञो भवितुमर्हः। ततश्च सर्वदर्शनसिद्धान्ताध्ययनेन तत्**स्मृति**स्थापनेन **सूक्ष्म**दृशान्वेषणेन च

– विस्तीर्ण है, उदार है, बड़ा दिलवाला है। यहा इर्ष्या और मत्सर की भावना नही, यहा विवाद–झगड़े की प्रेरणा नही। यहाँ किसी के मर्म का उद्घाटन नहीं होता। यहाँ तो सबके अभिप्राय को सन्मान देने की वृत्ति है। कोइ न कोइ दृष्टि से तो हर कोइ व्यक्ति सच होती है। उसी दृष्टि से उसका अभिप्राय समज़ने की कोशिश की जाती है। किसी की बात को तोड़ा नही जाता। किसी को मानसिक भी दुःख न हो इसका विशेष रूपसे खयाल रखा जाता है। सूक्ष्म जन्तु का भी जहाँ जीवनस्वातन्त्र्य है, मानसिक पीडा का भी जहाँ स्पष्ट निषेध है, ऐसी अहिंसा के पालन के लिये इस विराट विश्व के हर किसी किसम के जीव का यहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म निरूपण किया गया है। जिस शासन में यह पराया है ऐसी क्षुद्रता नही। जिस शासन की करुणा के विषय में विश्व का एक भी जीव बाकी न हो..... यह है विशाल शासन। ऐसे कल्याणकारी विशाल शासन का प्ररूपक सर्वज्ञ के सिवाँ और कौन हो सकता है ?

बस, हमे सभी दर्शनों का गहरा अभ्यास करना है, सभी सिद्धान्तों के सार को हमारी स्मृति में धारण करना है और सूक्ष्म दृष्टि से

सुलभैव सर्वज्ञावगतिः । तदिदं तत्त्वान्वेषणम्, सत्यसंशोधनम्, प्रतिभा-फलम्, मानवत्वादिसार्थक्यं च।

चेत्तज्ज्ञानं तदा कृतं शेषैरशेषैरपि, न येषु कल्याणकार्यक्षमता, न चापि तादृशविशालता, केवलमसच्छ्रद्धा, मत्सरादि, विवादश्च, तैः किं नः प्रयोजनम्? ते त्वनर्थकरण एव विपश्चित इति कृतमेभिः। अथातः परं परमलक्ष्यं स एव सर्वज्ञ इति।।२३।।

ननु स्वदर्शनविनिश्चय एव क्रियताम्, किमपरैरित्यत्राह -

यथा ममाप्तस्य विनिश्चितं वच -

स्तथा परेषामपि तत्र का कथा ?

उन महानुभावों में से सर्वज्ञ को ढूँढ निकालना है... बस यही है तत्त्वान्वेषण.... यही है सत्य की खोज़.... यही है बुद्धिमत्ता का फल.... यही है इस जीवन की सार्थकता.... और उस सर्वज्ञ को हम पहचान ले और उसे पा ले, तो फिर दुसरों का हमे क्या काम है। जहाँ कल्याण करने का सामर्थ्य नहीं - विश्व के जीवों का पूरा ज्ञान भी नहीं - जहाँ दृष्टि की संकुचितता है - विशालता नहीं - जहाँ विवाद-कलह या अंधश्रद्धा का ही ज़ोर हो, जहाँ ईर्ष्या आदि दोषों है, जहाँ अनर्थ करने में ही पांडित्य हो, उनका हमे क्या प्रयोजन ?

आज से वह सर्वज्ञ ही हमारा लक्ष्य हो, उसकी प्राप्ति ही हमारा जीवन का ध्येय हो।।२३।।

अरे भाइ, सबको जानने की क्या जरूर है, अपने अपने दर्शन का अभ्यास कर लो और उसका निश्चित ज्ञान प्राप्त कर लो, इतना ही काफी है। इसका उत्तर देते है -

जैसे मेरे आप्त का वचन मुझे विनिश्चित है, उसी तरह दुसरों को भी है, वहाँ क्याँ कहना? आग्रहरहित चित्त से उनके (वचन की) परीक्षा करनी चाहिये, परीक्षा करनी उचित है, इस अर्थ की

परीक्ष्यमेषां त्वनिविष्टचेतसा,[1]

परीक्ष्यमित्यर्थरुचिर्न वञ्च्यते॥२४॥

यथा मदभिमताप्तवचनं **मम** मदभिप्रायेण **विनिश्चितं तथा परेषामपि** स्वाभिमताप्तवचनमिति नात्र वाच्यम्। सिद्धे साधनवैयर्थ्यात्।

अपि त्वनभिनिविष्टमनसा रागादिपरिहारेण पक्षपातविमुक्तमध्यस्थ-हृदये**नैषां** सर्वेषामाप्ताभिमतानां वचनं **परीक्ष्यम्**, युक्तिभिर्विचारणीयमिति ममाशयः। ननु किम्प्रयोजनोऽयं महान् यत्न इत्याह यतो परीक्ष्यम्, तत एव स्वीकार्य**मित्येत**त**दर्थे** यस्याभि**रुचिः**, स **न वञ्च्यते**, स असदध्वगमनायासेन फलविरहेणानर्थसम्पादनेन च वञ्चितो न भवतीति हृदयम्॥२४॥

तादृशरुचिविकलानामभ्युपगमापोहबीजं पक्षपातमात्रमित्याह –

रुचिवाला वञ्चित नहीं होता है॥२४॥

जिस तरह मुझे मेरे दर्शन के प्ररूपक का वचन ज्ञात है, उसका अभ्यास करके उसका ज्ञान मैंने विशेषरूप से निश्चित किया है, उसी तरह अन्य जनों ने भी अपने अपने आप्तपुरुष के सिद्धान्तों को जाना है। उसकी मैं बात नहीं कर रहा हूँ। इस विषय में कहने की आवश्यकता भी नहीं है। मेरा निवेदन तो यही है की अपने दर्शनसहित सभी दर्शन का माध्यस्थतापूर्वक पक्षपातरहित युक्तिओं से परीक्षात्मक अध्ययन हो।

यदि कोइ प्रश्न करे कि 'इतना यत्न क्यूँ किया जा रहा है?' तो उत्तर है कि 'मुझे परीक्षा करके ही स्वीकार करना है' इस हेतु जिसे अभिरुचि है, वह कभी प्रतारित नहीं होता है = अस्थान या गलत रास्ते में प्रयास नही होता, उसे फल का विरह नही होता और अनर्थ की प्राप्ति नही होती॥२४॥

जिन्हें परीक्षा करने की रुचि नही होती वे स्वपक्षस्वीकार और परपक्ष का अपलाप करते है। यह करने का कारण सिर्फ पक्षपात ही

---

१. ख- ०तसां।

मयेदमभ्यूहितमित्यदोषलं,
न शास्तुरेतन्मतमित्यपोह्यते।
तथापि तच्छिष्यतयैव रम्यते,
कृतज्ञतैषा जलताऽल्पसत्त्वता।।२५।।

मतमिदं मयाभ्यूहितम् - अभ्यस्तम् - तर्कितम् - स्वीकृतं वेति - तस्मादिद**मदोषलं** - दोषं लाति - गृह्णातीति दोषलं सदोषमित्यर्थः, न तथेत्यदोषलं निर्दोषमिति हृदयम्। एवं च स्वमतस्वीकारप्रयोजकं ममत्वमात्रम्, न तु तत्त्वान्वितता परमार्थनिर्दोषतेत्युक्तं भवति।

त**थैतन्मतं न शास्तुः** - न मदभिमताऽऽप्तस्**येति** - तस्माद**पोह्यते**- निराक्रियते नैव स्वीक्रियत इति। एवं च तदपोहनिबन्धनमपि न तत्त्वै-

---

है, यह बताते है -

मैंने इसका अंगीकार किया है, इस लिए यह निर्दोष है। यह मेरे शासक का मत नहीं है, इस लिए यह सदोष है। फिर भी शासक की शिष्यतापूर्वक ही रमण करते है। यह कृतज्ञता है, जड़ता है और अल्पसत्त्वता है।।२५।।

'इस दर्शन को मैंने स्वीकारा है, मैंने इस पर विमर्श किया है, मैंने इसका अभ्यास किया है, मुझे इस पर अनुराग है इस लिये यह निर्दोष है' ऐसा माना जाता है, और 'यह मेरे शासक का मत नहीं' इतने ही कारण से उसका निराकरण किया जाता है। (दोष को लेता है = दोषलम्। दोष को नही लेता = अदोषलम्।)

इस तरह स्वपक्षस्वीकार और परपक्ष के इन्कार का रहस्य पक्षपात, मोह एवं ममत्व ही होता है, स्वदर्शन की तत्त्वसंपन्नता-निर्दोषता और परदर्शन की तत्त्वविकलता - सदोषता नहीं। इस तरह वह तत्त्वविमुख है, अतः अपना असत्य शास्त्र भी स्वीकारता है एवं युक्तियुक्त परशास्त्रों की उपेक्षा करता है। शायद व्यक्ति इस बात को समझता भी है, फिर

कल्यं सदोषता वा, अपि तु परकीयत्वमात्रम्। ततश्च तत्त्ववैमुख्येन यत्किञ्चित्स्वकीयादरेण युक्तियुक्तमपि परकीयमुपेक्ष्यते। **तथापि**- इत्थं च जानानोऽपि स्वशासकोक्तिदौर्बल्यं तच्छिष्यत्व एव रमणं करोति, कदाचिज् ज्ञाततत्त्वोऽपि स्वशासकोपकारं तत्कृतयत्किञ्चित्सौजन्यं जानन् - सुष्ठु स्मरन् **कृतज्ञ**तया तत्त्वविकलमपि तं सर्वज्ञं मत्वा पूजयति। औचित्यं तु सर्वत्र परमकर्तव्यम्, परं तत्त्वान्वेषणे कृतज्ञता नामानौचित्यम्, ततश्च दोषोऽयम्।

तत्त्वपराङ्मुखतया परम्परागतदार्ढ्यमिति जडता। तत्त्वानुरागेऽपि

भी वह अपने शासक की शिष्यतापूर्वक ही रमण करता है, उसे अपना दर्शन कैसा भी हो, उसके ही अनुयायी बने रहना पसंद आता है।

ऐसी दशा पर शोक करते हुए कहते है - यह उनकी कृतज्ञता है, शासक ने जो एहिक उपकार किया उसे जानते हुए, हमेशा के लिये उस उपकार की प्रतिकृति के रूप में ऐसे ही जीवन जीना है कि शासक के वचन युक्तिविकल होते हुए भी उन्हें सर्वज्ञ मानकर उनकी आराधना करना, तत्त्व की ऐसी की तैसी करके, जैसे परमतत्त्व मिल गया हो वैसे उनकी बातों में हा जी हा करना, यह है कृतज्ञता। वास्तव में तत्त्वान्वेषी को कड़ा परीक्षक बनना पड़ता है। उचित सदाचार (औचित्य) तो अवश्यतया करना ही चाहिए, मगर उसके अतिरेक में तत्त्व की उपेक्षा नही कर सकते। इस भूमिका में कृतज्ञता की मुख्यता एक दोष बन जाता है, अनौचित्य बन जाता है।

तत्त्व की परवा ही न करना और जो चला आया है, उसे ही पकड़ के बैठा रहना तो जड़ता है। कभी कभी ऐसा हो जाता है कि तत्त्वानुराग भी हो, तत्त्व के अनुयायी बनना पसंद भी हो, जीवनभर आराधित मार्ग छोड़ने की कामना भी हो, मगर ऐसा करने में डर लगता है, वो चाहे गुरुजनों का हो या समाज का, आपत्ति का हो

गुर्वादिलज्जयाऽपयशोभीत्या वाऽऽदृतापरिहारो**ऽल्पसत्त्वतालिङ्गम्**। त्रितयमेतत् तत्त्वसञ्चरसञ्चरणान्तराय इति।।२५।।

तादृशकृतज्ञतादिमतः परीक्षाऽपि दोषायेत्याह –

इदं परेषामुपपत्तिदुर्बलं,
कथञ्चिदेतन्मम युक्तमीक्षितुम्।
अथात्मरन्ध्राणि च सन्निगूहते,
हिनस्ति चान्यान् कथमेतदक्षमम् ?।।२६।।

परीक्षायामपि पक्षपातिन एतादृशविमर्शः-यदु**तेदं** स्थानं **परेषां** सिद्धान्ते **उपपत्तिदुर्बलम्** – युक्त्यक्षमम्, किं सर्वथा ? नेत्याह कथञ्चित्, इदमुक्तं भवति, येन केनापि प्रकारेणात्रोपपत्तिदुर्बलता, ततश्चैनामन्वेष्य मया ते

या अपयश का, मगर वे तत्त्व के मार्ग पर नहीं आ सकते – यह है अल्पसत्त्वता। इस तरह कृतज्ञता, जड़ता और अल्पसत्त्वता तत्त्वप्राप्ति में विघ्न बन जाते है।।२५।।

ये तीन विघ्न से बाधित व्यक्ति कभी परीक्षक बनने जाय तो भी दोष का ही सेवन करता है, यह कहते है –

परवादीओं की यह बात कथञ्चित् युक्तियुक्त नहीं है। मुझे इस पर विमर्श करना चाहिए। इस तरह अपने मत के दोषों को छिपाता है और दूसरों के शास्त्रों का प्रतिक्षेप करता है। यह कैसा मात्सर्यपूर्ण व्यवहार !।।२६।।

वह परीक्षक बनके परदर्शनों का थोडा-बहुत अभ्यास करता है और सोचता है कि परवादीओं की ये बात कथञ्चित् युक्तिविकल मालूम होती है, विचार करने पर यह बात टूट कर चकचूर हो जाती है। तो मुझे इस पर विमर्श करना चाहिए, इस बात को गौर से देखना उचित है। ऐसा सोचके परवादीओं के प्रतिक्षेप को ध्येय बना कर परीक्षा के बजाय विवाद में उपयोगी दोषान्वेषण में मग्न हो जाता है।

हन्तव्याः। एतदेवाह – ममेदं स्थानं कर्कशतर्कदृशा द्रष्टुं योग्यमिति। यद्वा कथञ्चितोऽत्रान्वयः[1], ततश्च येन केनचित् पथाऽपि मयाऽत्र परुषसमालोचना कार्येति।

अथ दृष्टस्वमतदोषः परप्रेरितस्वमतयुक्तिदुर्बलत्वो वा**ऽऽत्मरन्ध्राणि**– स्वदर्शनसिद्धान्तविरोधादि – दोषान् **सन्निगूहते** – सर्वात्मना तद्गोपनादृतो भवति। **अन्यांश्च** – परवादिनो निःशङ्कं **हिनस्ति** – अरुन्तुदैर्दोषाविष्कारैरत्यन्तं दूनोतीति **कथमेतदक्षमम्** ? न विद्यते क्षमा सौजन्यं यत्रेति – **अक्षमम्** – मात्सर्यपूर्णं कृत्यम्, कथमेतदित्यत्यसमञ्जसदर्शनोद्भूतः खेदोद्गारः।

एवं च माध्यस्थ्यशून्यस्य तत्त्वान्वेषणमपि तत्त्वतो दोषान्वेषणम्। सोऽयं 'वनेऽपि दोषाः' – न्यायापातः।।२६।।

अथवा कथञ्चित् का अन्वय आगे करो तो अर्थ इस प्रकार होगा – कथञ्चित्= कोइ भी प्रकार से मुझे परशास्त्रों की कठोर समीक्षा करनी चाहिए, अर्थात् दोषान्वेषण करना चाहिए।

मगर कभी स्वदर्शन में क्षति महसूस हो या कोइ स्वदर्शन की युक्तिविकलता बताये, तो पूरे प्रयत्न से आत्मरन्ध्र – अपने मत के दोषों को छिपाने लगता है। अपने बड़े बड़े दोषों को नज़रअंदाज करता है, और दूसरों के छोटे दोष या दोषाभास पर पूरी शक्ति से प्रहार करता है।

यह कितनी अक्षम – क्षमारहित – मत्सरपूर्ण वृत्ति ! यदि मध्यस्थता न हो, तो परीक्षा भी विवाद और वाक्सङ्ग्राम बन जाता है, और तत्त्वान्वेषण के बजाय दोषान्वेषण हो जाता है। इस तरह यहाँ यह न्याय का अवतार होता है कि– भोगी आत्मा की तपोवनस्थिति भी दोषवृद्धि का ही कारण बनती है।।२६।।

---

१. 'कथञ्चित्' – पदस्य षष्ठ्या निर्देशोऽयम्।

अथ मध्यस्थतत्त्वान्वेषिपरीक्षकोच्चतमचित्तवृत्तिमाह –

दुरुक्तमस्येदमहं[1] किमातुरो ?
ममैष कः ? किं कुशलोज्झिता वयम् ?
गुणोत्तरो योऽत्र स नोऽनुशासिता,
मनोरथोऽप्येष कुतोऽल्पचेतसाम् ?॥२७॥

पुरातनप्रेमी स्वसिद्धान्तदोषान् सन्निगूहते, अयं तु न तथेति स्फुटमेव यथार्थं ब्रूते, तदेवाह – **दुरुक्तमस्येदम्**, यद्यपि मच्छासक-वचनमिदं तथापि युक्तिविकलमिति।

अथ पुरातनगृह्यास्तं शिक्षयन्ति–नीचैर्वद, किं ब्रवीषि ? ब्रह्म-वचनमिदम्, ततश्च स्वीकरणीयमेव, नात्र तर्कावकाश इत्यत्राह – **अहं**

पक्षपातशून्य एवं माध्यस्थ्यपूर्ण तत्त्वान्वेषी की उच्चतम चित्तवृत्ति तो ऐसी होती है –

उस का यह वचन दोषयुक्त है, क्याँ में रोगी हूँ ? यह मेरा कौन लगता है ? क्याँ हम कल्याण से वंचित है ? 'यहाँ जो गुणों में श्रेष्ठ (हो) वही हमारा अनुशासक (हो)', ऐसा मनोरथ भी अल्पबुद्धिओं को कैसे (हो सकता है)?॥२७॥

हमने देखा कि पुरातनप्रेमी अपने सिद्धान्त में दोष दिखे तो उसे छिपाने का प्रयत्न करता है, मगर तत्त्वप्रेमी तो उसके जैसा नही, इस लिये स्पष्टतया जैसा देखा वैसा ही बता देता है। जैसे कि यहाँ कहा– भले ही यह मेरे शासक का वचन है, तथापि यह दुरुक्त है – युक्तिरहित है – अप्रमाण है।

यह सुनकर पुरातनप्रेमी भड़क जाते है, और उसे कहते है, अरे, धीरे बोलो, यह तुम क्या बोलते हो ? यह तो परब्रह्म का वचन है। इसका किसी भी हालत में स्वीकार ही करना है। इसमें तर्क–वितर्क

---

१. क,ख– ०मस्यैतदहं।

किमातुरः ? – किमहं वातकी सन्निपातग्रस्तो वा यज् जानन्नपि विषं पिबामि, तथा च दुरुक्तत्वेन परिहार्यमेवैतदिति।

पुनरपि तमनुनयन्त आहुः – त्वत्पितृपितामहादिनिखिलपरम्परा–पूज्योऽयम्, तमधिक्षिपन् किं न लज्जसे ? तत्राह – **ममैष कः** ? न कश्चिदित्याशयः, तत्त्वान्वेषणे पित्रादिसम्बन्धस्यापि विस्मरणार्हत्वात्। न ह्यसर्वज्ञे दोषासम्भवः, ततश्च पितर्यपि परिचर्यैवेव प्रशस्यम्, न तु सर्वज्ञतादर्शनमिति।

अथ यादृशस्तादृशो वाऽप्ययमेवास्माकमाप्तः, अयमेव सर्वथाऽऽराध्यः,

---

का कोइ अवकाश नहीं।

तत्त्वशोधक इसका उत्तर देते हुए कहता है– 'क्या मैं रोग से भ्रष्टमतिवाला हूँ ? क्या मुझे पागल कुत्ते ने काटा है ? क्या मैं जानबूझकर झहर पी लूँ ? जो युक्तिरहित है – शत प्रतिशत गलत ही है – उसे मैं कैसे मान लूँ ? इसका तो त्याग ही उचित है।'

फिर उसे मनाते हुए कहते है, अरे भाइ, तुम्हारे पिता – पितामह आदि सारी वंशपरंपरा के ये पूज्य है, उनका अधिक्षेप – अपमान करने में तुम्हे लज्जा नहीं आती है ? तत्त्वरुचि उत्तर देता है – ये मेरे कौन लगते है ? यानि की कोइ भी नहीं। क्यूँ कि तत्त्वान्वेषण में पिता आदि कोइ भी संबंध का स्मरण बाधक होता है, क्योंकि उससे सत्य की खोज प्रामाणिक तौर पर नहीं हो सकती। जो सर्वज्ञ नहीं उसमें दोष क्यूँ नहीं होंगे ? और युक्तिरहित बाते करनेवाला सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? इस लिये पिता हो या पारम्परिक इष्टदेवता उनकी सेवा – उचित सन्मान ही कर्तव्य है, नहीं कि उनमें सर्वज्ञता का दर्शन। सर्वज्ञ तो वही है कि जिसके वचन परीक्षा से उत्तीर्ण हो कर उनकी युक्तिपूर्णता एवं यथार्थवादिता का परिचय दे रहे है।

यह सुनकर पुरातनप्रेमीओं स्वस्थता खो बेठते है, और बोल उठते

अस्यैवोदितमादरणीयं चेत्यत्राह – **किं कुशलोज्झिता वयम्** ? तथा कृते च वयं **कुशलम्**–क्षेमम्, कल्याणमिति यावत्, तेनोज्झितास्त्यक्ता एव स्युः, विफलत्वादस्थानाभियोगस्येति हृदयम्।

कस्तर्हि भवतोऽभिसन्धिरित्यत्राह, **अत्र** – जगति **यो गुणोत्तरो** – यथार्थवादितादिगुणैः सर्वापेक्षया श्रेष्ठः, **स** आप्तो अस्माक**मनुशासिता**– हितशासकः शिवमार्गदर्शको भवतु – इत्येव ममाशयः।

तदेवं तत्त्वान्वेषिस्फुटाभिप्रायमुक्त्वा तदितरैस्तुलनां करोति – **अल्पचेतसां** – मन्दधियां – हीनसत्त्वानामिति यावत्, **एषो**ऽनन्तरोदितो **मनोरथोऽपि** तदनुरूपक्रियाशून्योऽभिलाषोऽपि **कुतः** ? न कुतश्चित्, तन्मनोरथस्यापि तत्त्वरुचिहेतुकत्वादित्यभिप्रायः।।२७।।

है, देखो, ज्यादा भाषण मत करो, जैसे भी हो यही हमारे परमेश्वर है, सर्व प्रकार से हमे उनकी ही आराधना करनी है, उनके ही वचन का आदर करना है। सत्यप्रेमी जवाब देता है – क्या मैं कुशलोज्झित हूँ ? क्या मुझे कल्याण से दूर जाना है ? क्योंकि ऐसा करने पर कल्याण मुझे छोड़ देंगे। मैं सही राह को जानते हुए भी उन्मार्ग पर चलकर दुःखी होना क्यूँ चाहुँ ? ये मुज़से हरगीझ नहीं हो सकता।

निराश हो कर पुरातनप्रेमी उसे पुछते है कि, तो अब तुम क्या चाहते हो ? परीक्षक मक्कमता से कहता है – जो गुणोत्तर हो– अपनी युक्तिसंपन्नता – यथार्थवादिता आदि गुणों से सारे विश्व में श्रेष्ठ हो वही मेरे अनुशासक हो, वही मेरे कल्याण के मार्गदर्शक हो, वही मेरे आराध्य परमेश्वर हो, यही मेरी भावना है, यही मेरा निश्चय है।

दिवाकरजी कहते है, तत्त्वरुचिका यह जो अभिप्राय है, जो निश्चय है, ऐसा मनोरथ भी मंदबुद्धि का नहीं हो सकता। तत्त्वमार्ग पर जाने की बात तो दूर रही, उसकी अभिलाषा भी जड़ और सत्त्वहीन जीवों के लिये नामुमकीन है। क्यूँ कि ऐसी अभिलाषा भी माध्यस्थ्य,

न च गौरवमेव दुष्टमिति मे मतिः, किन्तु तद्बीजविवेक आवश्यक इति स्पष्टयति–

न गौरवा[1]क्रान्तमतिर्विगाहते,

किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः।

गुणावबोधप्र[2]भवं हि गौरवं,

कुलाङ्गनावृत्तमतोऽन्यथा भवेत्।।२८।।

पुरातनस्वाभिमताप्तविषयं गौरवं – पूज्यबद्धिः, तेनाऽऽक्रान्ता समन्ताद् व्याप्ता मतिर्यस्येति **गौरवाक्रान्तमतिः**, तत एव निर्विवेको **न विगाहते** – न विवेचयति यत् **किमत्र**–स्वपरसिद्धान्ते **अर्थतो युक्तमु**चितं युक्तिसह**मयुक्तं** वा। शब्दतस्तु सर्वमप्यविचारितरम्यमि**त्यर्थत** इत्युक्तम्।

तत्त्वजिज्ञासा एवं तत्त्वानुराग के बिना सम्भवित नहीं।।२७।।

पुरातनों पर गौरव रखना यही दुष्ट है, ऐसा मैं नही कहता। किन्तु गौरव कहाँ करना, और कहाँ नही, इसका विवेक आवश्यक है। यही कहते है –

गौरव से आक्रान्त मतिवाला 'यहाँ क्या अर्थ से युक्त है और क्या नही' यह नही सोचता। (तात्त्विक) गौरव तो गुणों के ज्ञान से ही उत्पन्न होता है। और इससे भिन्न तो कुलाङ्गना का वृत्त बन जाएगा ।।२८।।

पुरातन – अपने माने हुए आप्त के उपर गौरव – पूज्यबुद्धि से जिसका हृदय भर गया है, वो सोचे बिना ही उनके वचन पर श्रद्धा कर लेता है। उस गौरव से भरे हृदय में विवेक की तनिक भी जगह नहीं रहती, इस लिये वो इस बात पर ध्यान ही नही देता कि इस वचनों में क्या युक्त है? क्या युक्तिसंपन्न–उचित–यथार्थ है और क्या अयुक्त है ? क्या युक्तिरहित एवं अनुचित है ? यह विचार

---

१. ख– ०क्रान्तिमति०। २. क– ०प्रतिवं।

तथा च स्वाभिमताप्तगौरवेण सर्वमपि तदुक्तं युक्तमेवेत्यभिनिवेशेन निश्चिनोति न तु सम्यक्परीक्षोत्थविवेचनेन। परापोहेऽपि तद्गौरवमेवास्य निबन्धनमिति स्फुटमेव तादृशगौरवप्रयुक्ततत्त्ववैमुख्यम्।

किं तर्हि सद्गौरवबीजमित्याशङ्क्याह – **गुणावबोधः** – यथार्थवादिता – रागद्वेषविनिर्मुक्तता – परमकरुणा – प्रशान्तमूर्तितेत्यादिलोकोत्तरगुणज्ञानं तेन **प्रभव** उत्पत्तिर्यस्य तद् **गुणावबोधप्रभवम्, हि** – यतः पारमार्थिकं **गौरवम्** – कस्मिंश्चिदाप्ते पूज्यबुद्धिः।

अथ यत्किञ्चिन्निबन्धनमपि गौरवमस्तु, को दोष इत्यारेकायामाह –

भी अर्थ की दृष्टि से होना चाहिए, क्योंकि शब्द तो सभी सुंदर ही होते है, जब तक उनके अर्थ का विमर्श न किया जाए।

इस तरह मेरे आप्त के वचन युक्त ही है, ऐसा वो निश्चय करता है, उसका मूल अच्छी परीक्षा से उद्भूत विवेक नही होता, मगर गौरव से जनित अभिनिवेश होता है। इसी तरह परदर्शन के सिद्धान्त अयुक्त है इस निश्चय का मूल भी अपने आप्त का गौरव ही होता है। इस तरह तत्त्वानुराग गौण बनता है और स्वाभिमत आप्त का गौरव मुख्य बनता है। इस तरह तत्त्व की प्राप्ति कभी नही हो सकती।

तो क्या किसी पर आदर नहीं रखना चाहिए ? इसका जवाब है ज़रूर रखना चाहिए, मगर वो सम्यक् गौरव होना चाहिए। ऐसे गौरव का हेतु है गुणावबोध। सर्व दर्शनों का गहरा अध्ययन करते करते जिस दर्शन के आप्त में यथार्थवादिता नज़र आये, जैसी वस्तुस्थिति हो बिल्कुल ऐसा ही उसका वचन हो, जो पूर्णतया वीतराग हो, जो क्रोधादि से अत्यन्त मुक्त हो, जिसकी अपरंपार करुणा सारे विश्व को प्लावित करती हो, जिसकी मुद्रा अत्यंत उपशान्त – प्रशान्त हो, ऐसे अनेक गुणों के जो स्वामि हो, उनके गुणों का हमे ज्ञान हो और वही ज्ञान उनके प्रति गौरव उत्पन्न करे, यही सम्यक् पारमार्थिक गौरव है।

अतोऽन्यथा गुणावबोधभिन्नहेतुकगौरवादरे तु **कुलाङ्गनावृत्तं भवेत्**, कुलस्त्रीचरितानुसरणं स्यात्। अयमत्राशयः-यथा हि सा कुलाङ्गना निर्गुणं ज्ञात्वाऽपि स्वपतिं यावज्जीवमपि नैव मुञ्चति, परमेश्वरबुद्ध्या यादृशं तादृशं वाऽपि तमेवाराधयति, परपुरुषं स्मरत्यपि न, आस्तां दृशा सम्भावनम्। तद्गुणश्रवणेऽप्यपराधं मन्यते। यथा निर्गुणोऽपि तत्पतिस्तदभिप्रायेण जगज्ज्येष्ठस्तथैव गुणावबोधभिन्नहेतुकगौरववतोऽभिप्रायेणापि स्वाभिमताऽऽप्त इति स्फुटमेव कुलाङ्गनावृत्तम्।

आपकी सब बात ठीक है, मगर जिसे जो पारंपरिक आप्त मिला उसीमें उसको आदर हो वही गौरव का हेतु हो, तो इसमें क्या नुकसान है ? इसका उत्तर देते है, यदि गुणावबोध ही गौरव का हेतु न हो, तो वो तो कुलाङ्गना का वृत्त बन जाये, अच्छे घर की स्त्री के आचरण का अनुकरण बन जाये।

ऐसी स्त्री का एक नैतिक धर्म होता है, कि जैसा भी पति हो उसे जीवनभर निभाना, पति कितना भी गुणरहित क्यूँ न हो, उसे परमेश्वर समज़कर उसकी सेवा करनी। उसके गुण गाना, उन्ही में अत्यन्त आदरभाव रखना।

परपुरुष को तो याद भी न करना, उसका खयाल भी मन में न आने देना, उसे देखने की तो बात ही कहाँ रही ? परपुरुष के गुणों का श्रवण करना इसे भी वो अपराध समज़ती है।

जिस तरह निर्गुण पति भी कुलाङ्गना के लिये विश्वश्रेष्ठ है, उसी तरह जिसे गुणावबोध से गौरव नही हुआ मगर पक्षपात से ही गौरव हुआ है, वो भी अपने आप्त के गुणों की परवा किये बिना ही उसे विश्वश्रेष्ठ मानता है। इस प्रकार यहाँ भी कुलांगनावृत्त ही हुआ।

कोइ प्रश्न करे कि ऐसा वृत्त भी अच्छा ही है ना ? इसमें कौनसा दोष है ? जवाब है आपकी बात सच है। इसमें कोइ दोष

कोऽत्र दोष इति चेत् ? दशापेक्षया न कोऽपीति ब्रूमः। कुलाङ्गनाया एवोचितमिदम्, न तु परीक्षकस्य, तस्य तु दोष एव कुशलोज्झिततादिरिति।।२८।।

इत्थं च गुणावबोध एव परमोपादेयः, परीक्षा च तद्धेतुरिति तद्विधिमुपदर्शयन्नाह–

न गम्यते किं प्रकृतं ? किमुत्तरं ?,
किमुक्तमेवं किमतोऽन्यथा भवेत् ?
सदस्सु चोच्चैरभिनीय कथ्यते,
किमस्ति तेषामजितं महात्मनाम्।।२९।।

याथार्थ्याग्रहप्रयुक्तं बाधादिदोषदर्शनहेतुकतत्सम्भावनाशयोदितं परीक्षकवचनमाह **न गम्यते** इति। युक्त्याऽनुपपन्नमिदमिति हृदयम्।

नहीं, मगर यह बात कुलाङ्गना के लिये है। उसकी भूमिका ही ऐसी है कि उसके लिये यही निर्दोष है, यही धर्म है। मगर तत्त्वान्वेषी परीक्षक के लिये यह बिल्कुल योग्य नहीं, उसका तो यह दोष ही है। उसका नुकसान भी कल्याण नहीं पाना इत्यादि बताया वो भी भुगतना ही पड़ेगा। इस लिये गौरव तो गुणावबोधजनित ही होना चाहिए।।२८।।

इस तरह गुणावबोध की प्राप्ति ही परम कर्तव्य है। और उसकी प्राप्ति परीक्षा से ही हो सकती है, इस लिये परीक्षा का दिग्दर्शन कराते है–

क्याँ प्रकृत है ? क्याँ उत्तर है ? यह ज्ञात नहीं होता। जो कहा है वह सत्य है, या उससे विपरीत सत्य है ? इस तरह जो महापुरुष सभाओं में बुलंदता के साथ अभिनयसहित कहते है उन के लिये अजित क्याँ हो सकता है ?।।२९।।

'जो होगा सो होगा' इस तरह का उपेक्षाभाव परीक्षक में सम्भवित नही, वो तो सर्व प्रयत्न से भीतर में उतरेगा, और यथार्थता के अटल

किं तद्यन्न गम्यत इत्याह **किं प्रकृतं** किं प्रकरणमाश्रित्येदमुक्तम् ? किमत्र तात्पर्यम् ? प्रश्नोऽयं पूर्वापरविरोधप्रकरणासाङ्गत्यादिदोषदर्शनोद्भवः।

तथा **किमुत्तरम्** ? अमुकामुकानुपपत्तौ किं समाधानम् ? तथा **किमुक्तमेवं** – यथास्मिन् शास्त्र उदितं किं तथैव वस्तुस्थितिः ? अथ वा **किमतोऽन्यथा भवेत्**? तद्विपरीतैव वस्तुस्थितिस्स्यात् ?

इत्यादि यैः **सदस्सु** वादिप्रतिवादिपरिपूर्णसभासु **चौच्चैः** – तथा

आग्रह के साथ उस वचन की कड़ी परीक्षा करेगा। और यदि उसे वहाँ बाधादि दोष नज़र में आये तो उन दोषों की तरफ अंगुलिनिर्देश करते हुए शिष्ट भाषा में कहेगा कि ये समज़ में नहीं आ रहा है, यह बात कुछ हज़म नहीं हुई। आशय यही है कि यह वचन युक्ति के आगे टिक नहीं सकता।

यदि पुछा जाय कि क्या समज में नहीं आता ? तो वो कहता है क्या प्रकृत – प्रस्तुत किया जा रहा है ? ये तो अचानक असम्बद्ध बात आ पडी, या तो इस बात का इसी ग्रंथ के पूर्व और पश्चात भाग से विरोध आ रहा है, इस बात की तो प्रकरण से = प्रस्तुत बात के साथ कोइ संगति ही नहीं। ऐसे दोषों का वह प्रामाणिकता एवं नीडरता से उल्लेख करता है। और कहता है कि ऐसी अनुपपत्ति– ग्रन्थ की जटिल उलझनों का उत्तर क्याँ है ? उनका समाधान क्या है ?

जिस तरह इस शास्त्र में कहा है ऐसी ही वास्तविकता है, या इससे विपरीत परिस्थिति हो सकती है ? आँखे बँधकर के स्वीकार लूँ, ऐसी मेरी वृत्ति नहीं, शास्त्रदर्शित स्थिति ही वास्तविकता है, इसमें क्या प्रमाण है ? इससे विपरीत नहीं है इसमें क्या बाधक हो सकता है ? और यदि प्रमाण नहीं है तो इसका स्वीकार कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकार जो पुरातनप्रेमीओं से भरी सभा में अद्भुत

नैवानन्तरप्रश्नाः स्वमनस्येव ध्रियन्ते, अपि तु कथ्यन्तेऽपीति समुच्चये **च**कारः। उच्चैरिति न क्षोभादिना मन्मनोक्तिभिर्वक्ति, किन्तु प्रागल्भ्येन स्फुटाक्षरम्। **अभिनीये**ति नाकारसङ्गोपनपुरस्सरमपि तु मनोऽनुरूपा-भिनयपूर्वकम्, इदमपि तत्त्वान्वेषिनिर्भयपरीक्षकलक्षणम्। यद्वा आभिमुख्येन स्वापादितदोषान् सहेत्वादि ज्ञापयित्वे**त्यभिनीय**। यैरेवं **कथ्यते** – पुरातन-नगृह्यसमाजेऽपि स्वस्य तत्त्वाभिमुखता प्रकटीक्रियते, **तेषां महात्मनां** प्रतिस्रोतोगमनोपयोगिसत्त्वविशिष्टतामूलकमहत्त्वान्वितात्मनां **किमजित-मस्ति** ?

न किञ्चिदित्याशयः। तथा च दुर्दान्तवादिवृन्दकरिकेसरिसङ्काशोऽसौ सर्वानपि पराभूय तत्त्वोपलब्धिसमुद्भूत-सुखसन्दोहसाम्राज्यं जयत्येव,

---

सत्त्व के साथ बुलंदता से कहते है, अपने उन प्रश्नों को भय आदि कारणों से मन में ही दबा नहीं देते, अपने तत्त्वान्वेषी भावों को समाज़ के भय से छिपाते नहीं मगर अपने अभिनय में उनका पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ने देते है, अपनी बातों का समर्थन करने के लिये मजबूत हेतु, दृष्टान्तादि का प्रयोग करते है, ऐसे महापुरुष प्रतिस्रोतगमन में समर्थ ऐसे सत्त्वशाली है। नदी के प्रवाह के सामने तैरके जाना इसे प्रतिस्रोत गमन कहते है। सारी दुनिया नदी के प्रवाह के अनुसार ही गमन करती है, यह काम तो मरी हुई मछली भी कर सकती है, जो सिलसिला चला आ रहा है, उसमें अपने आपको भी बहने देना इसमें कौन सी महानता है? तत्त्व की प्रामाणिक खोज़ और युक्तिहीन पुरातन मार्ग का त्याग करके, तत्त्वमार्ग का स्वीकार यही महान कार्य है।

ऐसे महान कार्यों करनेवाले महापुरुषों को कुछ भी अजित नहीं है, वे दुर्जेय वादीओं को वैसे ही जीत लेते है, जैसे की अकेला सिंह हाथीओं को जीत ले। फिर तो वह तत्त्व की प्राप्ति से उत्पन्न हुए सुखों के साम्राज्य को पाकर परमपद पाता है। वास्तव में इस श्लोक

किमप्यस्याजितं नास्तीत्यभिप्रायः, **न गम्यत** इत्यादेरेव पुरातनानुरागि-क्षुद्रमृगवृन्दसिंहनादायमानत्वादिति ।।२९।।

एतादृशोऽपि परीक्षकस्य भिन्नदर्शनसिद्धान्ताध्ययन एकविषयकविरुद्ध-धर्माभिप्रायोऽवश्यं ज्ञास्यते, स एव प्रायो वादहेतुः, तथा चात्र कथं परीक्षासाफल्यं वादोपरतिर्वेत्यत्राह –

समानधर्मोपहितं विशेषतो-
ऽविशेषतश्चेति कथा निवर्तते ।
अतोऽन्यथा न प्रतरन्ति वादिन-
स्तथा च सर्वं व्यभिचारवद् वचः।।३०।।

यथाऽऽत्मप्रभृतिवस्तुनि नित्यत्वादिरेको धर्मस्तथैवानन्तधर्मा अपि,

---

में परीक्षक के जो 'न गम्यते' उद्‌गार कहे है, वे भी सिंहनाद जैसे है, जिससे पुरातनप्रेमीओं हिरण की तरह काँपने लगते है। महापुरुषों को उन्हें जीतने का भी कष्ट नहीं लेना पड़ता, फिर उनके लिये अजित क्या हो सकता है। ।।२९।।

ऐसे महात्मा भी परीक्षा के लिये नाना दर्शनों के सिद्धान्तों का अध्ययन करे तब उन्हें एक ही विषय में तरह तरह के अभिप्राय जानने मिलेंगे, हर अभिप्राय के अपने अपने प्रबल तर्क होंगे, ऐसे नाना अभिप्रायों से हि ज्यादातर वादों का निर्माण होता है, फिर तो वो परीक्षक स्वयं उलझन में पड़ जायेगा, तब तो परीक्षा ही निष्फल हो जायेगी और प्रबल तर्कों से वाद की भी समाप्ति नही होगी, इस लिये आपका यह सारा भाषण व्यर्थ है – इस बात का समाधान करते है-

समान धर्म से उपधानप्राप्त विशेष से एवं अविशेष से, इस तरह कथा समाप्त होती है। इस से अन्य प्रकार से वादिओं (कथा का) पार नहीं पा सकते, एवं इस तरह सर्व वचन व्यभिचारयुक्त है।।३०।।

आत्मा आदि सर्व वस्तु में जैसे नित्यतारूप एक धर्म है, उसी

एवं च **समान**तयाऽनन्तधर्मा **उपहिताः**- सम्बद्धा यत्रेति **समानधर्मोपहितं** वस्तु, गौणेतरभावस्याऽऽपेक्षिकत्वात् । तदेवाऽऽह **विशेषत** इत्यादि। तथा चार्पितानर्पितसिद्धे**रविशेष**विवक्षायां तदेवात्मादि वस्तु नित्यम्, अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिररूपत्वात्, कालत्रयेऽपि व्ययविरहात्, तदेव चात्मादि वस्तु **विशेष**विवक्षायामनित्यम्, नृनारकादिपर्यायपरिवर्तित्वात्।

एवं चात्मादिविषयकनित्यत्वेतराभिप्रायकवादकथानिवर्तनम्। अन्यथा तु तदसम्भवः, एतदेवाह-**अतोऽन्यथा वादिनः न प्रतरन्ति**, न वादकथार्णवं प्रकर्षेण सद्युक्तिपोताश्रयेण तरन्ति, मिथ्याभिनिवेशसचिवकुतर्कबलेन कथञ्चित् प्रतिवादिजेतारोऽपि न वादकथायां सम्यग् निर्णयं प्राप्नुवन्ति स्वयमप्य-

---

तरह उसमें अनित्यता आदि अनन्त धर्म भी है। इस तरह जिसमें समान रूपसे अनन्त धर्म सम्बद्ध है,ऐसी समानधर्मोपहित वस्तु में विशेष की विवक्षा न करे तो वो वस्तु नित्य है, क्यूँ कि कभी भी उसका अत्यन्ताभाव नही होता, तीनों काल में कभी भी उसका व्यय नहीं होता, कभी भी ऐसी स्थिति नही होती कि उस वस्तु का एक भी पर्याय विद्यमान न हो। इस तरह कभी भी वो वस्तु नष्ट नहीं होती और कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इस लिये नित्य है।

अब जब विशेष की विवक्षा करे तब वो आत्मादि वस्तु अनित्य है, क्यूँ कि वो मनुष्यादि पर्यायों के रूप में उत्पन्न होती है और विनष्ट भी होती है। इस तरह वो अनित्य है।

इस तरह 'आत्मा नित्य है या अनित्य है' इत्यादि विषयवाली वादकथा की सुखद समाप्ति हो जाती है। अन्यथा तो परीक्षा भी प्रश्न बन जाये और वादकथा की कभी भी समाप्ति न हो पाये। इसी लिये कहते है कि अन्यथा वादीओं वादकथारूप समुद्र का पार नही पा सकते। कभी युक्तिरहित प्रतिज्ञा को भी कुतर्कों के बल से सिद्ध करके परवादी कों जीत भी ले, मगर यह वास्तविक विजय नहीं, क्योंकि

निश्चितत्वात्, प्रतिवादिकृतस्वमतस्वीकारविरहाच्च।

अथैवमपि विजयोऽस्त्वित्यत्राह **तथा चे**त्यादि। परमार्थविजयाभाव इत्याशयः। आत्मादि वस्तु नित्यमेव इति प्रतिज्ञायां सर्वोऽपि हेतुर्व्यभिचारी, नृतिर्यगादिपर्यायाणामुपलभ्यमानत्वात्। इत्थमेवानित्यत्वादिप्रतिज्ञायामपि भावनीयम्। ततश्चास्य विजयोऽपि सभापतिमोहादिहेतुक इति वस्तुतः पराजय एव।।३०।।

एवं तु प्रतिज्ञाभावाद्वादस्यासौ प्रसक्तः, नो चेत्तदा व्यभिचारात्पराजय एवेतीतो व्याघ्रन्यायावतार इत्यत्राह –

स्वयं वादी को भी विनिश्चित ज्ञान नहीं है और हारने के बावजूद भी प्रतिवादी प्रायः उसके मत का स्वीकार नही करता है।

कोइ कहे कि भले ही न करे, विजय तो मिला ना ? तो उसे उत्तर देते है कि इस तरह तो वास्तव में पराजय ही है, क्यूँ कि जब वादी आत्मादि वस्तु नित्य ही है ऐसी प्रतिज्ञा करता है, तब वो उसे सिद्ध करने के लिए जो कोइ भी हेतु रखे वो सब अनैकान्तिक है, क्यूँ कि आत्मा के मनुष्यादि पर्यायों की स्पष्ट उपलब्धि होती है। इसी तरह अनित्यता की प्रतिज्ञा में भी समज़ लेना चाहिए। इस तरह उसका वचन अनैकान्तिक होते हुए भी उसे विजय मिले, उसका कारण सभापति का मोह आदि ही होता है, इस लिये वादी तो हकीकत में पराजित ही है।।३०।।

इस तरह तो प्रतिज्ञा ही नहीं कर सकेंगे, फिर तो वाद भी कैसे होगा ? यह तो वाद के बिना ही पराजय मिल गया। और प्रतिज्ञा करो तो अभी बताया उस रीति से अनेकान्त दोष से पराजय होगा, फिर तो 'ये बाजु से बाघ और ये बाजु नदी किनारा' ऐसी दशा हो गइ – इस बात का समाधान करते है –

यथाधर्मं यस्तु साध्यं विभज्य,
गमयेद् वादी तस्य कुतोऽवसादः?
यदेव साध्येनोच्यते [1]विद्यमानं,
तदेवान्यत्र विजयं सन्दधाति।।३१।।

यथाधर्ममित्यादि। स्वप्रतिजिज्ञासितधर्मरूपसाध्यं **यथाधर्मं** वस्तुनि विद्यमानान्यधर्मानतिक्रमेण तत्प्रतिक्षेपपरिहारपुरस्सरं **विभज्ये**त्येतदपेक्षयाऽयं धर्मः सिसाधयिषित इति सम्यग् विभागं कृत्वा **यस्तु वादी गमयेत्** प्रतिपादयेत् तस्य कुतोऽवसादः ? कस्मात्पराजयः ? न कुतश्चिदसम्भवात्।

तथाऽऽहाऽन्यत्र – हेउविसओवणीअं जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ।

जो वादी धर्म के अनुसार साध्य का विभाग कर के (उस का) ज्ञान कराता है, उस का पराभव कैसे हो सकता है ? जो ही साध्य से विद्यमान रूप से कहा जाता है, वो ही अन्यत्र विजय का सम्यक् संबंध कर देता है।।३१।।

जो वादी वस्तु के अन्य धर्म का प्रतिक्षेप किये बिना, इस अपेक्षा से मैं यह धर्म को सिद्ध करना चाहता हूँ, इस तरह विवेक से जो वादी प्रतिज्ञा करता है, उसे कौन हरा सकता है ? कोइ भी नहीं, क्योंकि उसका पराजय असम्भवित है।

'आत्मा केवल नित्य ही है, अनित्य है ही नहीं' ऐसा कहने के बजाय आत्मा का कभी भी सर्वथा विनाश नहीं होता इत्यादि पूर्वोक्त अपेक्षा से ही आत्मा नित्य है, मनुष्यत्व आदि पर्यायों की अपेक्षा से वो अनित्य भी है, ऐसा प्रतिज्ञा करे तो भला कौन इसकी बात का प्रतिक्षेप कर सकता है ?

यही बात मूलकार ने सम्मति नाम के अन्य प्रकरण में कि है – हेतु के विषयस्वरूप प्रतिपादित साध्य को जिस तरह परवादी दूषित

---

१. क– विद्यामानम्।

जइ तं तहा पुरिल्लो दाइंतो केण जिव्वंतो ? इति (सम्मतौ ३-६८)

एवं विभजनमन्तरेण **यदेव** वस्तुनि **विद्यमान**मपि नित्यत्वादि **साध्ये-नोच्यते तदेवा**नित्यत्वादिरूपप्रतिपक्षसाधनप्रेरकीभू**यान्यत्र** प्रतिवादिनि विजयं सन्दधाति - सुखेनैव तद्विजयं तनोतीति ।।३१।। अथोपसंहरन्नाह-

मया तावद् विधिना[1]ऽनेन शास्ता,
जिनः स्वयं निश्चितो वर्द्धमानः।
यः [2]सन्धास्यत्याप्तवत् प्रतिभानि,
स नो जा[3]ड्यं भंस्यते पाटवं चेति।।३२।।

मया तावदनेन मध्यस्थदृशा परीक्षणात्मकेन **विधिना स्वयम**-न्यबलाभियोगाद्यन्तरेणैव **वर्द्धमानो जिनः शास्ता** - मदनुशासकत्वेन

करता है, उसे समज़ कर यदि वादी उसका प्रतिक्षेप ही न हो सके इस तरह साध्य का प्रतिपादन करे, तो उसे कौन जीत सकता है? ।।३-५८।।

मगर इस तरह विवेकपूर्वक प्रतिपादन न करके, वस्तु में विद्यमान ऐसा भी जो नित्यत्वादि साध्य से कहा जाता है, उससे ही प्रतिवादी को उससे विपरीत धर्म - अनित्यत्वादि को सिद्ध करने की प्रेरणा मिलती है, वो वादी के साध्य का प्रतिक्षेप कर देता है, और यथासंभव विजय प्राप्त कर लेता है ।।३१।।

अब उपसंहार करते है-

मैंने तो इस विधि से स्वयं निश्चय किया है, कि 'श्री वर्द्धमान जिन मेरे शासक हो।' जो आप्त की तरह हमारे ज्ञान को प्रकट करेंगे, हमारी अज्ञानता एवं चंडता का वे भंग करेंगे।।३२।।

मैंने तो ऐसी मध्यस्थ दृष्टि से परीक्षण करने की विधि से किसीकी जबरदस्ती के बिना स्वयं ही श्री वर्द्धमान जिनको मेरे शासक के रूप

---

१. ख- ०ना तेन। २. ख- सन्धाय व्याप्तवत्प्राति०। ३. क,ख- ०ड्यं मंस्यते।

निश्चितोऽवधारितः, अग्निपरीक्षानन्तरं सुवर्णजात्यत्ववत्। **तावदि**ति। न ममाऽनेन निवेदनेनैव भवताऽपि स एव शास्तृत्वेन निश्चीयताम्, अपि तु भवताऽपि विधिनाऽनेन भवदनुशासको निश्चीयताम्, अहं तु मत्कृत-परीक्षाफलमात्रं सौजन्येन वच्मीत्युदाराशयद्योतकं 'तावत्'- पदम्।

अथ किंफलोऽयं निश्चय इत्यारेकायामाह - **यो** जिनो नः - अस्माकम्, मादृशां शासकत्वेन निश्चितो जिनो यैस्तेषां **चाप्तवत् प्रतिभानि** प्रतिभास्यतेऽनेन ज्ञेयमिति प्रतिभं ज्ञानम्, तानि **सन्धास्यति** - सदुप-देशादिनिमित्ततदावरणक्षयाद्यापादनेन सम्यक् प्रकटीकरिष्यति, तत एव **नो**

में निश्चित किया है। जैसे ही अग्निपरीक्षा से उत्तीर्ण हो कर सुवर्ण अत्यन्त शुद्ध कहलाता है, उसी तरह वर्द्धमान जिन के वचन भी उस परीक्षा से पूर्णतया उत्तीर्ण हो कर अत्यन्त यथार्थरूप से शोभायमान है।

यहाँ 'तावत्' पद का एक गम्भीर अर्थ है, दिवाकरजी कहते है कि, मैं ये नहीं कहता कि मैंने श्रीवर्द्धमान को चुना, इस लिये ही आप भी उन्हे ही चुन लो। मेरा आशय तो है आप भी मध्यस्थ हो कर परीक्षा की विधि से अपने अनुशासक को चुन लो, यहाँ तो केवल मैंने कि हुइ परीक्षा का परिणाम आपको सौजन्यता से दिखाया है। इस उदार आशय को 'तावत्' पद बता रहा है।

कोइ पुछे कि इतनी परीक्षा की महेनत के बाद आपने श्रीवर्द्धमान जिन को अनुशासक के रूप में निश्चित किया, इसका आपको क्या फल मिलेगा ? इसका उत्तर देते है - वो जिन मेरे और जिन्होंने भी उन्हे अनुशासक के रूप में चुना है, उनके ज्ञान का संधान करेंगे, एक आप्त की तरह सदुपदेश आदि निमित्त से हमारे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय आदि करके हमारे ज्ञान को प्रगट करेंगे, इस प्रकार हमारा अज्ञान नष्ट करेंगे और हमारे क्रोधादि कषायों को भी नष्ट करेंगे।

जाड्यं–अज्ञानं **भंस्यते** यथा न पुनरेति तथापनेष्यति, **पाटवं** – पटोश्चण्डस्य भावः, तमपि भंस्यते, शेषकषायोपलक्षणमिदम्, ततश्च सर्वज्ञता–वीतरागद्वेषताप्रदानेनासावस्माकं स्वपदप्रदाता सर्वदुःखविमोचकोऽनन्ता–नुपमैकान्तिकात्यन्तिकशिवसौख्यप्रदश्चेति।

आप्तवदिति सर्वथा कृतकृत्ये सिद्धे ज्ञानसन्धानादि – क्रियाऽसम्भवात्, अभिधेययथार्थज्ञान–तदनुरूपाभिधानलक्षणाप्तलक्षणस्य वर्तमानापेक्षया–ऽभिधत्त इत्यंशेऽघटनात्, तथापि तत्प्रभावतस्तत्सम्भवात्, भूतापेक्षया चाभिधानक्रियाघटनात् शुद्धनयाभिप्रायेणोपचारानाश्रयेणाप्त इत्यस्य स्थान आप्तवदित्युदितम्। व्यवहाराश्रयेण तु आप्त इत्येव सम्यगिति ध्येयम्।।३२।।

यहाँ 'आप्तवत्' पद का अर्थ है, सर्वथा कृतकृत्य हो कर सिद्धिगति में सदा के लिये स्थिर ऐसे वर्द्धमान जिन ऐसी क्रिया साक्षात् तो नहीं करते, अभिधेय – ज्ञेय वस्तु को जो यथार्थ जाने और ज्ञान के अनुरूप ही निरूपण करे ऐसी आप्त की वार्तमानिक व्याख्या भी उनमें मुख्य रूप से लागु नहीं होती। वर्तमान में तो भगवान महावीर सर्वथा कृतकृत्य है, अतः प्रतिपादन करने की क्रिया भगवान महावीर में अतीतकाल की अपेक्षा से ही संगत हो सकती है, किंतु आज भी उनके वचन यथार्थता से उनकी सर्वज्ञता का परिचय दे रहे है, और उनके ही प्रभाव से ज्ञानप्रकाशादि क्रिया भी होती ही है। इस लिये आप्तवत् = 'आप्तके जैसे' इस तरह शुद्ध नय के अभिप्राय से कहा है। व्यवहार से तो वह आप्त ही है।

इस तरह श्री वर्द्धमान जिन हमे सर्वज्ञ, वीतराग और वीतद्वेष बनायेंगे, हमे अपना सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान करेंगे, हमे सर्व दुःखों से मुक्ति दिलायेंगे और अनन्त, अनुपम, एकान्तिक और आत्यन्तिक ऐसे शिवसुख के दायक बनेंगे।

इति

चरमतीर्थपति करुणासागर श्री**महावीरस्वामि**शासने

तपागच्छीयाचार्यदेवश्रीमद्विजय-**प्रेम-भुवनभानु-पद्म-**

हेमचन्द्रसूरीश्वरशिष्य आचार्यविजय**कल्याणबोधिसूरि**संस्तुता

श्रीसिद्धसेनीषष्ठीद्वात्रिंशिकावृत्तिरूपा

तत्त्वोपनिषद्

इति

चरमतीर्थपति करूणासागर श्री**महावीरस्वामि** भगवानके शासनमें

तपागच्छीय आचार्यदेव श्रीमद्विजय **प्रेम-भुवनभानु-**

हेमचन्द्रसूरीश्वरशिष्य आचार्यविजय**कल्याणबोधिसूरि**संस्तुत

श्रीसिद्धसेनीषष्ठीद्वात्रिंशिकावृत्तिरूप

तत्त्वोपनिषद्

શ્રી ભુવનભાનુસૂરિ જન્મશતાબ્દીએ નવલું નજરાણુ

ज्ञानामृतं भोजनम्...

પરિવેષક

પ.પૂ.વૈરાગ્યદેશનાદક્ષ આ. હેમચન્દ્રસૂરીશ્વરશિષ્ય
આ. કલ્યાણબોધિસૂરીશ્વરજી મ.સા.

૧. સિદ્ધાન્તમહોદધિ મહાકાવ્યમ્ - સાનુવાદ.
૨. ભુવનભાનવીયમ્ મહાકાવ્યમ્ - સાનુવાદ, સવાર્તિક.
૩. સમતાસાગર મહાકાવ્યમ્ - સાનુવાદ.
૪. પરમપ્રતિષ્ઠા કાવ્યમ્ - સાનુવાદ, કલાત્મક આલ્બમ સાથે.
૫. જીરાવલીયમ્ કાવ્યમ્ - સાનુવાદ.
૬. પ્રેમમંદિરમ્ - કલ્યાણમંદિરપાદપૂર્તિ સ્તોત્ર - સાનુવાદ, સવાર્તિક.
૭. છંદોલંકારનિરૂપણમ્ - કવિ બનવાનો શોર્ટકટ - પોકેટ ડાયરી.
૮. તત્ત્વોપનિષદ્
૯. વાદોપનિષદ્
૧૦. વેદોપનિષદ્
૧૧. શિક્ષોપનિષદ્
} શ્રીસિદ્ધસેનદિવાકરસૂરિકૃત ષષ્ઠી, અષ્ટમી, નવમી અને અષ્ટાદશી દ્વાત્રિંશિકા પર સંસ્કૃત ટીકા - સાનુવાદ.
૧૨. સ્તવોપનિષદ્ - શ્રીસિદ્ધસેનદિવાકરસૂરિ તથા કલિકાલસર્વજ્ઞશ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યકૃત અદ્ભુત સ્તુતિઓના રહસ્ય - સાનુવાદ.
૧૩. સત્ત્વોપનિષદ્ - યોગસાર ચતુર્થપ્રકાશવૃત્તિ - સાનુવાદ. (માત્ર સંયમી ભગવંતો માટે)
૧૪. દેવધર્મોપનિષદ્ - મહોપાધ્યાયશ્રી યશોવિજયજીકૃત દેવધર્મપરીક્ષા ગ્રંથની ગુર્જર ટીકા
૧૫. પરમોપનિષદ્ - મહોપાધ્યાયશ્રી યશોવિજયજી આદિ કૃત પાંચ 'પરમ' કૃતિઓ પર ગુર્જરવૃત્તિ
૧૬. આર્ષોપનિષદ્-૧
૧૭. આર્ષોપનિષદ્-૨
} શ્રી પ્રત્યેકબુદ્ધપ્રણીત ઋષિભાષિત (ઈસિભાસિયાઈ) આગમસૂત્ર પર સંસ્કૃત ટીકા.

१८. વૈરાગ્યોપનિષદ્ - શ્રીહરિહરોપાધ્યાયકૃત ભર્તૃહરિનિર્વેદ નાટક-ભાવાનુવાદ.

૧૯. સૂક્તોપનિષદ્ - પરદર્શનીય અદ્ભુત સૂક્તોનો સમુચ્ચય તથા રહસ્યાનુવાદ

૨૦. કર્મોપનિષદ્ - સિદ્ધાન્તમહોદધિ શ્રીપ્રેમસૂરીશ્વરજીકૃત કર્મસિદ્ધિ ગ્રંથ પર ભાવાનુવાદ.

૨૧. વિશેષોપનિષદ્ - શ્રી સમયસુંદરોપાધ્યાયજીકૃત વિશેષશતક ગ્રંથ પર ગુર્જર ભાવાનુવાદ.

૨૨. હિંસોપનિષદ્ - શ્રી હરિભદ્રસૂરિકૃત સ્વોપજ્ઞ અવચૂરિ અલંકૃત હિંસાષ્ટક ગ્રંથ પર ગુર્જર ટીકા.

૨૩. અહિંસોપનિષદ્ - અજ્ઞાતકર્તૃક (પ્રવાદતઃ શ્રીહરિભદ્રસૂરિ મહારાજા કૃત) નાનાચિત્તપ્રકરણ પર સંસ્કૃત ટીકા-સાનુવાદ.

૨૪. ધર્મોપનિષદ્ - વેદ થી માંડીને બાઈબલ સુધીના ધર્મશાસ્ત્રોના રહસ્ય.

૨૫. શમોપનિષદ્ - નવનિર્મિત સપ્તક પ્રકરણ - સાનુવાદ.

૨૬. લોકોપનિષદ્ - શ્રી હરિભદ્રસૂરિકૃત લોકતત્ત્વનિર્ણય ગ્રંથ પર સંસ્કૃત વૃત્તિ (ભાગ-૧).

૨૭. આત્મોપનિષદ્ - શ્રી ઉદયનાચાર્યકૃત આત્મતત્ત્વવિવેક ગ્રંથ પર ગુર્જર ટીકા (ભાગ-૧).

૨૮. સામ્યોપનિષદ્ - મહોપાધ્યાયશ્રી યશોવિજયજીકૃત સમાધિ-સામ્યદ્વાત્રિંશિકા સચિત્ર સાનુવાદ.

૨૯. આગમોપનિષદ્ - આગમપ્રતિપક્ષનિરાકરણ (વિસંવાદ પ્રકરણ) પર વિશદ વિવરણ

૩૦. સ્તોત્રોપનિષદ્ - શ્રીવજ્રસ્વામિકૃત શ્રીગૌતમસ્વામિસ્તોત્ર - સચિત્ર સાનુવાદ.

૩૧. દર્શનોપનિષદ્-૧ } શ્રી માધવાચાર્યકૃત સર્વદર્શનસંગ્રહ
૩૨. દર્શનોપનિષદ્-૨ } ગ્રંથ પર ગુર્જર ભાવાનુવાદ.

૩૩-૩૪-૩૫. રામાયણના તેજ કિરણો - રામાયણી માટે પર્યાપ્ત આલંબન ભાગ-૧,૨,૩

૩૬. જ્ઞાનોપનિષદ્ - અષ્ટાવક્ર ગીતા પર સંસ્કૃત વૃત્તિ.

૩૭,૩૮. સંબોધોપનિષદ્ - સટીક શ્રીરત્નશેખરસૂરિકૃત સંબોધસપ્તતિ ગ્રંથ પર ગુર્જરવૃત્તિ, ભાગ-૧,૨

૩૯. ઈષ્ટોપનિષદ્ - શ્રીપૂજ્યપાદસ્વામિકૃત ઈષ્ટોપદેશ ગ્રંથ પર સંસ્કૃત ટીકા-સાનુવાદ

૪૦,૪૧. વિમોહોપનિષદ્ - શ્રીયશપાલમંત્રીકૃત મોહરાજપરાજય નાટક પર વિષમપદવ્યાખ્યા અને અનુવાદ.ભાગ-૧,૨

૪૨. શ્રામણ્યોપનિષદ્ - દશવિધ યતિધર્મ પર નવનિર્મિત પ્રકરણ (બીજું નામ શ્રમણશતક)

૪૩. સફળતાનું સરનામું - સફળ જીવન જીવવા માટે સફળ કિમિયાઓ

૪૪. પ્રસન્નતાની પરબ - વક્તા-શ્રોતા બંનેને ઉપયોગી વૈરાગ્યાદિ રસઝરણા.

૪૫. સૂત્રોપનિષદ્ - શ્રીસૂત્રકૃતાંગસૂત્ર-દ્વિતીયશ્રુતસ્કંધ પર સંસ્કૃત સંગ્રહણી. (શ્રીસૂત્રકૃતાંગદીપિકા ભાગ-૨ના પુનઃ સંપાદન સાથે.)

૪૬. પ્રવ્રજ્યોપનિષદ્ - અજ્ઞાતપૂર્વાચાર્યકૃત પ્રવ્રજ્યાવિધાન પ્રકરણ પર ગુર્જર વૃત્તિ

૪૭. દેશનોપનિષદ્ - વૈરાગ્યદેશનાદક્ષ પૂ. ગુરુદેવશ્રીની વાચનાઓનું સંસ્કૃત કાવ્યમય અવતરણ.

૪૮. જીરાવલા જુહારીએ - ગીત ગુંજન.

૪૯. અસ્પર્શોપનિષદ્ - મહોપાધ્યાયશ્રી યશોવિજયજીકૃત અસ્પૃશદ્ગતિવાદ પર ગુર્જર વૃત્તિ

૫૦. હિતોપનિષદ્ - અધ્યાત્મકલ્પદ્રુમના યતિશિક્ષોપદેશાધિકાર તથા યતિશિક્ષાપંચાશિકા પર ગુર્જર વાર્ત્તિક + સાનુવાદ સાવચૂરિ યતિવિચાર

૫૧. ઉપદેશોપનિષદ્ - ઉપદેશરત્નકોષ ગ્રંથ પર વિશદ વૃત્તિ.

૫૨. પ્રાર્થનોપનિષદ્ - અલંકારિક સ્તુતિઓ પર તાત્પર્યવૃત્તિ-સાનુવાદ.

૫૩. સદ્બોધોપનિષદ્ - સદ્બોધચન્દ્રોદય પંચાશિકા પર સંસ્કૃત વાર્ત્તિક - સાનુવાદ

૫૪,૫૫. અંગોપનિષદ્ - અદ્યાવધિ અમુદ્રિત ગ્રંથ અંગચૂલિકાસૂત્ર પર નૂતન સંસ્કૃતવૃત્તિ

૫૬. વર્ગોપનિષદ્ - અદ્યાવધિ અમુદ્રિત ગ્રંથ વર્ગચૂલિકાસૂત્ર પર નૂતન સંસ્કૃતવૃત્તિ

૫૭. આગમની આછી ઝલક

In Process.....

❉ બોટિકોપનિષદ્ - અદ્યાવધિ અમુદ્રિત કૃતિઓ-બોટિક પ્રતિષેધ, બોટિક નિરાકરણ, દિગંબરમત ખંડન, બોટિકોચ્ચાટનના સમન્વય સાથે અનેક પ્રાચીન ગ્રંથોના આધારે દિગંબરમતની ગંભીર સમીક્ષા

❉ દુઃષમોપનિષદ્ - દુઃષમગંડિકા ગ્રંથ પર વિશદ વૃત્તિ.

❉ આચારોપનિષદ્ - શ્રીદેવસુંદરસૂરિકૃત સામાચારી પ્રકરણ પર વિશદ વૃત્તિ

श्री जिनशासन सुकृत मुख्य आधारस्तम्भ

१. **श्री नयनबाला बाबुभाई जरीवाला परिवार**
ह. लीनाबेन चन्द्रकुमारभाई जरीवाला परीवार - मुम्बई
२. **श्री नयनबाला बाबुभाई जरीवाला परिवार**
ह. शोभनाबेन मनीशभाई जरीवाला - मुम्बई
३. **श्री मूलीबेन अंबालाल शाह परिवार**
ह. रमाबेन पुंडरीकभाई शाह - खम्भात- मुम्बई
४. **श्री सायरकंवर जादवजी कोठारी परिवार**
ह. मीनाबेन विनयचन्द्र कोठारी - जोधपुर - मुम्बई

(आप भी रू.११ लाख देकर श्री जिनशासन सुकृत आधार स्तंभ बन शकते हो।)

श्री जिनशासन मुख्य आधारस्तम्भ

१. **श्री अठवालाइन्स श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन सङ्घः**
तथा श्रीफूलचन्द कल्याणचन्द झवेरी ट्रस्ट - सूरत

(आप भी रू.११ लाख देकर श्री जिनशासन मुख्य आधार स्तंभ बन शकते हो।)

श्री जिनशासन सुकृत आधारस्तम्भ

१. **श्री कान्तिभाई मणिलाल शाह परिवार**
ह. बीनाबेन कीर्तिभाई शाह - लिम्डी - मुम्बई

(आप भी रू.५ लाख देकर श्री जिनशासन सुकृत आधार स्तंभ बन शकते हो।)

श्री जिनशासन आधारस्तम्भ

१. **श्री माटुंगा श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ - मुम्बई**
२. **श्री हेमचन्द्राचार्य ज्ञानमंदिर - पाटण**
३. **श्री मनफरा श्वे.मूर्ति जैन संघ मनफरा**
(प्रेरक :- प.पू.आचार्यदेव श्रीमद्विजय **कलाप्रभसूरिश्वरजी** महाराजा)
४. **श्री गोवालिया टेंक जैन सङ्घः - मुम्बई**
५. **श्री नवजीवन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन सङ्घः**

६. श्री नडियाद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन सङ्घः, नडियाद

७. श्री के.पी.संघवी चेरीटेबल ट्रस्ट, श्रीपावापुरी तीर्थ – जीवमैत्रीधाम

(आप भी रू.५ लाख देकर श्री जिनशासन सुकृत आधार स्तंभ बन शकते हो।)

श्रुतसमुद्धारक

१. भानभाई नानजी गडा, मुंबई (प्रेरक : प.पू. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा.)
२. शेठ आनंदजी कल्याणजी, अमदावाद
३. श्री शांतिनगर श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ, अमदावाद (प्रेरक : प.पू. तपसम्राट आचार्यदेव श्रीमद्विजय हिमांशुसूरि म.सा.)
४. श्री श्रीपालनगर जैन उपाश्रय ट्रस्ट, वाल्केश्वर, मुंबई (प्रेरक : प.पू. ग. आ. रामचंद्रसूरि म.सा. नी दिव्यकृपा तथा पू. आचार्यदेव श्रीमद्विजय मित्रानंद सू. म.सा.)
५. श्री लावण्य श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ, लावण्य सोसायटी, अमदावाद (प्रेरक : प.पू. पंन्यासजी श्री कुलचंद्रविजयजी गणिवर्य)
६. नयनबाला बाबुभाई सी. जरीवाला ह. चंद्रकुमार, मनीष, कल्पनेश (प्रेरक : प.पू. मुनिराजश्री कल्याणबोधि विजयजी म.सा.)
७. केशरबेन रतनचंद कोठारी ह. ललितभाई (प्रेरक : प.पू. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयघोषसूरीश्वरजी महाराज)
८. श्री श्वेतांबर मूर्तिपूजक तपगच्छीय जैन पौषधशाला ट्रस्ट, दादर, मुंबई (प्रेरक : आचार्यदेव श्री हेमचंद्रसूरिजी म.सा.)
९. श्री मुलुंड श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ, मुलुंड, मुंबई (आचार्यदेव श्री हेमचंद्रसूरि म.सा. की प्रेरणा से)
१०. श्री सांताक्रुज श्वे. मूर्ति. तपागच्छ संघ, सांताक्रुज, मुंबई (प्रेरक : आचार्यदेव श्री हेमचंद्रसूरि म.सा.)
११. श्री देवकरण मूलजीभाई जैन देरासर पेढी, मलाड (वेस्ट), मुंबई (प्रेरक : प.पू. मुनिराजश्री संयमबोधि वि. म.सा.)
१२. संघवी अंबालाल रतनचंद जैन धार्मिक ट्रस्ट, खंभात (पू.सा. श्री वसंतप्रभाश्रीजी म. तथा पू.सा. श्री स्वयंप्रभाश्रीजी म. तथा

पू.सा.श्री दिव्ययशाश्रीजी म. की प्रेरणा से मूलीबेन की आराधना की अनुमोदनार्थे)

१३. बाबु अमीचंद पन्नालाल आदीश्वर जैन टेम्पल चेरीटेबल ट्रस्ट, वाल्केश्वर, मुंबई-४००००६. (प्रेरक : पू. मुनिराजश्री अक्षयबोधि विजयजी म.सा. तथा पू. मुनिराजश्री महाबोधि विजयजी म.सा. तथा पू. मुनिराजश्री हिरण्यबोधि विजयजी म.सा.)

१४. श्री श्रेयस्कर अंधेरी गुजराती जैन संघ, मुंबई (प्रेरक : पू. मुनिश्री हेमदर्शन वि.म. तथा पू. मुनिश्री रम्यघोष वि.म.)

१५. श्री जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ, मंगल पारेखनो खांचो, शाहपुर, अमदावाद (प्रेरक : प.पू. आचार्यदेव श्री रूचकचंद्र सूरि म.)

१६. श्री पार्श्वनाथ श्वे.मू. जैन संघ, संघाणी इस्टेट, घाटकोपर (वेस्ट), मुंबई (प्रेरक : पू. मुनिराजश्री कल्याणबोधि वि. म.सा.)

१७. श्री नवजीवन सोसायटी जैन संघ, बोम्बे सेन्ट्रल, मुंबई (प्रेरक : पू. मुनिराजश्री अक्षयबोधि वि.म.सा.)

१८. श्री कल्याणजी सोभागचंदजी जैन पेढी, पिंडवाडा. (प्रेरक : सिद्धांतमहोदधि स्व. आ. श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी म.सा. ना संयमनी अनुमोदनार्थे)

१९. श्री घाटकोपर जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक तपगच्छ संघ, घाटकोपर (वेस्ट), मुंबई (प्रेरक : वैराग्यदेशनादक्ष पू.आ. श्री हेमचंद्रसूरि म.सा.)

२०. श्री आंबावाडी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, अमदावाद (प्रेरक : पू. मुनि श्री कल्याणबोधि वि.म.)

२१. श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ, वासणा, अमदावाद (प्रेरक : पू. आचार्य श्री नररत्नसूरि म. ना संयमजीवननी अनुमोदनार्थे पूज्य तपस्वीरत्न आचार्य श्री हिमांशुसूरीश्वरजी म.सा.)

२२. श्री प्रेमवर्धक आराधक समिति, धरणिधर देरासर, पालडी, अमदावाद (प्रेरक : पू. गणिवर्य श्री अक्षयबोधि विजयजी म.)

२३. श्री महावीर जैन श्वे. मूर्तिपूजक संघ, पालडी, शेठ केशवलाल मूलचंद जैन उपाश्रय, अमदावाद. (प्रेरक : प.पू. आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि म.सा.)

२४. श्री माटुंगा जैन श्वे. मूर्तिपूजक तपगच्छ संघ एन्ड चेरिटीज, माटुंगा, मुंबई (प्रेरक : आचार्यदेव श्री हेमचंद्रसूरिजी म.सा.)

२५. श्री जीवित महावीरस्वामी जैन संघ, नांदिया (राजस्थान) (प्रेरक : पू. गणिवर्य श्री अक्षयबोधि विजयजी म.सा. तथा मुनिश्री महाबोधि विजयजी म.सा.)

२६. श्री विशा ओसवाल तपगच्छ जैन संघ, खंभात (प्रेरक : वैराग्यदेशनादक्ष प.पू. आचार्यदेव श्री हेमचंद्रसूरि म.सा.)

२७. श्री विमल सोसायटी आराधक जैन संघ, बाणगंगा, वाल्केश्वर, मुंबई-४०० ००७ (प्रेरक : आचार्यदेव श्री हेमचंद्रसूरिजी म.सा.)

२८. श्री पालिताणा चातुर्मास आराधना समिति (प्रेरक : परम पूज्य वैराग्यदेशनादक्ष आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमचंद्रसूरीश्वरजी महाराज साहेब संवत २०५३ के पालिताणा में चातुर्मास प्रसंग पर ज्ञाननिधि में से)

२९. श्री सीमंधर जिन आराधक ट्रस्ट, एमरल्ड एपार्टमेन्ट, अंधेरी (ईस्ट), मुंबई (प्रेरक : मुनिश्री नेत्रानंद विजयजी म.सा.)

३०. श्री धर्मनाथ पोपटलाल हेमचंद जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ, जैन नगर, अमदावाद (प्रेरक - मुनिश्री संयमबोधि वि. म.)

३१. श्री कृष्णनगर जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ, सैजपुर, अमदावाद (प्रेरक : प.पू. आचार्य विजय हेमचंद्रसूरीश्वरजी म.सा. ना कृष्णनगर मध्ये संवत २०५२ के चातुर्मास निमित्त प.पू. मुनिराजश्री कल्याणबोधि विजय म.सा.)

३२. श्री बाबुभाई सी. जरीवाला ट्रस्ट, निजामपुरा, वडोदरा (प्रेरक : पू.पं. कल्याणबोधिवि. गणिवर्य)

३३. श्री गोडी पार्श्वनाथजी टेम्पल ट्रस्ट, पुना (प्रेरक : पू. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयघोषसूरीश्वरजी म.सा. तथा पू. मुनिराजश्री महाबोधि विजयजी म.सा.)

३४. श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर ट्रस्ट, भवानी पेठ, पुना. (प्रेरक : पू. मुनिराज श्री अनंतबोधि विजयजी म.सा.)

३५. श्री रांदेर रोड जैन संघ, सुरत (प्रेरक : पू.पं. अक्षयबोधि विजयजी म.सा.)

३६. श्री श्वे. मू. तपागच्छ दादर जैन पौषधशाला ट्रस्ट, आराधना भुवन, दादर, मुंबई (प्रेरक : मुनिश्री अपराजित विजयजी म.सा.)

३७. श्री जवाहर नगर जैन श्वे. मूर्तिपूजक संघ, गोरेगाव, मुंबई (प्रेरक : पू.आ. श्री राजेन्द्रसूरि म.सा.)

३८. श्री कन्याशाला जैन उपाश्रय, खंभात
(प्रेरक : पू.प्र.श्री रंजनश्रीजी म.सा. पू.प्र. श्री इंद्रश्रीजी म.सा. के संयमजीवन के अनुमोदनार्थे प.पू.सा. श्री विनयप्रभाश्रीजी म.सा. तथा प.पू.सा. श्री वसंतप्रभाश्रीजी म.सा. तथा साध्वीजी श्री स्वयंप्रभाश्रीजी म.सा.)
३९. श्री माटुंगा जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ संघ अेन्ड चेरीटीज, माटुंगा, मुंबई (प्रेरक : पू. पंन्यासप्रवर श्रीजयसुंदरविजयजी गणिवर्य)
४०. श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, ६० फुट रोड, घाटकोपर (ईस्ट) (प्रेरक : पू.पं.श्री वरबोधिविजयजी गणिवर्य)
४१. श्री आदिनाथ श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, नवसारी (प्रेरक : प.पू.आ. श्री गुणरत्नसूरि म. के शिष्य पू. पंन्यासजी श्री पुण्यरत्नविजयजी गणिवर्य तथा पू.पं. यशोरत्नविजयजी गणिवर्य)
४२. श्री कोईम्बतूर जैन श्वेतांम्बर मूर्तिपूजक संघ, कोईम्बतूर
४३. श्री पंकज सोसायटी जैन संघ ट्रस्ट, पालडी, अमदावाद (प.पू.आ. श्री भुवनभानुसूरि म.सा. के गुरुमूर्ति प्रतिष्ठा प्रसंग पर हुए आचार्य-पंन्यास-गणि पदारोहण दीक्षा वगेरे निमित्ते ज्ञाननिधि में से)
४४. श्री महावीरस्वामी जैन श्वेतांम्बर मूर्तिपूजक देरासर, पावापुरी, खेतवाडी, मुंबई (प्रेरक : पू. मुनिश्री राजपालविजयजी म.सा. तथा पू.पं. श्री अक्षयबोधिविजयजी म.सा.)
४५. श्री हीरसूरीश्वरजी जगद्गुरु श्वेतांम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ ट्रस्ट, मलाड (पूर्व), मुंबई
४६. श्री पार्श्वनाथ श्वे. मूर्ति. पू. जैन संघ, संघाणी ईस्टेट, घाटकोपर (वेस्ट), मुंबई (प्रेरक : गणिवर्यश्री कल्याणबोधि वि. म.)
४७. श्री धर्मनाथ पोपटलाल हेमचंद जैन श्वे. मू.पू. संघ जैन नगर, अमदावाद (पू. मुनिश्री सत्यसुंदर वि. की प्रेरणा से चातुर्मास में ज्ञाननिधिमें से)
४८. रतनबेन वेलजी गाला परिवार, मुलुंड - मुंबई (प्रेरक : पू. मुनिश्री रत्नबोधि विजयजी)
४९. श्री मरीन ड्राईव जैन आराधक ट्रस्ट, मुंबई
५०. श्री सहस्रफणा पार्श्वनाथ जैन देरासर उपाश्रय ट्रस्ट, बाबुलनाथ, मुंबई (प्रेरक : मुनिश्री सत्वभूषण विजयजी)

५१. श्री गोवालीया टेंक जैन संघ, मुंबई (प्रेरक : गणिवर्यश्री कल्याणबोधि वि.)
५२. श्री विमलनाथ जैन देरासर आराधक संघ, बाणगंगा, मुंबई
(प्रेरक : आचार्यदेव श्री हेमचंद्रसूरिजी म.सा.)
५३. श्री वाडीलाल साराभाई देरासर ट्रस्ट प्रार्थना समाज, मुंबई (प्रेरक : मुनिश्री राजपालविजयजी तथा पं. श्री अक्षयबोधि विजयजी गणिवर)
५४. श्री प्रीन्सेस स्ट्रीट, लुहार चाल जैन संघ (प्रेरक : गणिवर्य श्री कल्याणबोधि वि.)
५५. श्री धर्मशांति चेरीटेबल ट्रस्ट, कांदिवली (ईस्ट), मुंबई
(प्रेरक : मुनिश्री राजपाल विजयजी तथा पं. श्री अक्षयबोधि विजयजी गणिवर)
५६. साध्वीजी श्री सूर्ययशाश्रीजी तथा सुशीलयशाश्रीजीना पार्ला (ईस्ट) कृष्णकुंज में हुए चातुर्मास की आवक में से
५७. श्री प्रेमवर्धक देवास श्वे. मूर्तिपूजक जैन संघ, देवास, अमदावाद
(प्रेरक : पू.आ. श्री हेमचंद्रसूरिजी म.)
५८. श्री पार्श्वनाथ जैन संघ, समारोड, वडोदरा (प्रेरक : पंन्यासजी श्री कल्याणबोधिविजयजी गणिवर्य)
५९. श्री मुनिसुव्रतस्वामी जैन देरासर ट्रस्ट, कोल्हापुर (प्रेरक : पू. मुनिराज श्री प्रेमसुंदर विजयजी)
६०. श्री धर्मनाथ पो. हे. जैन नगर श्वे. मू.पू. संघ, अमदावाद
(प्रेरक - पू.पं. पुण्यरत्न विजयजी गणिवर्य)
६१. श्री दिपक ज्योति जैन संघ, कालाचोकी, परेल, मुंबई (प्रेरक - पू.पं. श्री भुवनसुंदर विजयजी गणिवर्य तथा पू.पं. श्री गुणसुंदर विजयजी गणिवर्य)
६२. श्री पद्ममणि जैन श्वेतांबर तीर्थ पेढी - पाबल, पुना (प्रेरक : पं. कल्याणबोधि विजयजी के वर्धमान तप सो ओलीनी अनुमोदनार्थे, पंन्यासजी श्रीविश्वकल्याणविजयजी गणिवर्य)
६३. ओमकार सूरीश्वरजी आराधना भुवन - सुरत
(प्रेरक : आ. गुणरत्नसूरि म. ना शिष्य मुनिश्री जिनेशरत्नविजयजी म.)
६४. श्री गोडी पार्श्वनाथ जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ, नायडु कोलोनी, घाटकोपर (ईस्ट), मुंबई
६५. श्री आदीश्वर श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ, गोरेगाव (प्रेरक : आ. राजेन्द्रसूरीश्वरजी

म.सा.)

६६. श्री आदीश्वर श्वेतांबर ट्रस्ट, सालेम (प्रेरक : पू. गच्छाधिपति आ. जयघोषसूरीश्वरजी म.सा.)

६७. श्री गोवालिया टेंक जैन संघ, मुंबई
(प्रेरक : पू. पंन्यासजी श्री कल्याणबोधिविजयजी गणिवर्य)

६८. श्री विलेपारले श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ अेन्ड चेरिटीझ, विलेपार्ले (पूर्व), मुंबई

६९. श्री नेन्सी कोलोनी जैन श्वे.मू.पू. संघ, बोरीवली मुंबई
(प्रेरक : पू. पंन्यासजी श्री कल्याणबोधिविजयजी गणिवर्य)

७०. मातुश्री रतनबेन नरसी मोनजी सावला परिवार
(प.पू. श्री कल्याणबोधि वि. के शिष्य मुनि भक्तिवर्धन वि. म. तथा सा. जयशीलाश्रीजी के संसारी सुपुत्र राजनजी की पुण्यस्मृति निमित्ते ह. सुपुत्रो नवीनभाई, चुनीलाल, दिलीप, हितेश)

७१. श्री सीमंधर जिन आराधक ट्रस्ट, एमरल्ड एपार्टमेन्ट, अंधेरी (ई)
(प्रेरक : प.पू. श्री कल्याणबोधि विजयजी गणिवर्य)

७२. श्री धर्मवर्धक श्वे. मूर्तिपूजक जैन संघ, कार्टर रोड नं.१, बोरीवली
(प्रेरक : प.पू. वैराग्यदेशनादक्ष आचार्य भगवंत श्री विजय हेमचंद्रसूरीश्वरजी म.सा. तथा पंन्यासप्रवर श्री कल्याणबोधि विजयजी गणिवर्य)

७३. श्री उमरा जैन संघनी श्राविकाओ (ज्ञाननिधि में से)
(प्रेरक : प.पू. मुनिराजश्री जिनेशरत्न विजयजी म.सा.)

७४. श्री केशरीया आदिनाथ जैन संघ, झाडोली (राज.)
(प्रेरक : प.पू. मु.श्री मेरुचंद्र वि.म. तथा पं. श्री हिरण्यबोधि वि.ग.)

७५. श्री धर्मशांति चेरीटेबल ट्रस्ट, कांदीवली, मुंबई (प्रेरक : प.पू. मुनिराजश्री हेमदर्शन वि.म.सा.)

७६. श्री जैन श्वे. मू. सुधाराखाता पेढी, महेसाणा

७७. श्री विक्रोली संभवनाथ श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, विक्रोली (ईस्ट), मुंबई के आराधक बहनों की तरफ से (ज्ञाननिधि)

७८. श्री के.पी. संघवी चेरीटेबल ट्रस्ट, सुरत, मुंबई (प्रेरक : प.पू. वैराग्यदेशनादक्ष आचार्य भगवंत श्री विजय हेमचंद्रसूरीश्वरजी म.सा. तथा पंन्यासप्रवर श्री

कल्याणबोधि विजयजी गणिवर्य सुश्राविका तपस्वीरत्ना श्रीरतनबेनना ७५ उपवास निमित्ते)

७९. शेठ कनैयालाल भेरमलजी चेरिटेबल ट्रस्ट, चंदनबाला, वाल्केश्वर, मुंबई

८०. शाह जेसींगलाल मोहनलाल आसेडावालोंके स्मरणार्थे
(हः प्रकाशचंद्र जे. शाह, आफ्रिकावाले)
(प्रेरक : पंन्यासप्रवर श्री कल्याणबोधि विजयजी गणिवर्य)

८१. श्री नवाडीसा श्वे. मूर्तिपूजक जैन संघ, बनासकांठा

८२. श्री पालनपुर जैन मित्र मंडल संघ, बनासकांठा
(प्रेरक : पू.पंन्यासप्रवरश्री कल्याणबोधि विजयजी गणिवर्य)

८३. श्री ऊंझा जैन महाजन (प्रेरक : पू. पंन्यासप्रवर श्री अपराजितविजयजी गणिवर्य एवं पू.मुनिराजश्री हेमदर्शनविजयजी म.सा.)

८४. श्री सीमंधर जिन देरासर, एमरल्ड अपार्टमेन्ट, अंधेरी (ई) मुंबई
(प्रेरक : पू.सा.श्रीस्वयंप्रभाश्रीजी के शिष्या पू.सा.श्री तत्त्वप्रज्ञाश्रीजी आदि)

८५. श्री बापुनगर श्वे.मू. जैन संघ, अमदावाद

८६. श्री शेफाली जैन संघ, अमदावाद

८७. श्री शान्ताबेन मणिलाल घेलाभाई परीख उपाश्रय, साबरमती, अमदावाद
(प्रेरक : सा.श्री सुवर्णप्रभाश्रीजी म. तथा सा.श्री रत्नत्रयाश्रीजी म.)

८८. श्री आडेसर विशा श्रीमाई जैन देरावासी संघ
(प्रेरक : आ.श्री कलाप्रभसूरीश्वरजी म.सा.)

८९. श्रीमद् यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला एवं श्री श्रेयस्कर मंडल, महेसाणा.

९०. श्री तपागच्छ सागरगच्छ आणंदजी कल्याणजी पेढी, विरमगाम
(प्रेरक : आ.श्री कल्याणबोधिसूरीश्वरजी म.)

९१. श्री महावीर श्वे. मूर्तिपूजक जैन संघ, विजयनगर, नारणपुरा, अमदावाद

९२. श्री सीमंधरस्वामि जैन संघ, अंधेरी (पूर्व)
(प्रेरक : सा. श्री स्वयंप्रभाश्रीजी म.)

९३. श्री चकाला श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ
(प्रेरक : आ.श्री कल्याणबोधिसूरीश्वरजी म.)

९४. श्री अठवालाईन्स श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ एवं श्री फूलचन्द कल्याणचंद झवेरी ट्रस्ट, सुरत

९५. श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ संघ - संस्थान, ब्यावर (राजस्थान) (प्रेरक : आ. श्री पुण्यरत्नसूरीश्वरजी म.सा.)

९६. पालनपुरनिवासी मंजूलाबेन रसिकलाल शेठ (हाल, मुंबई), (प्रेरक : आ.श्री कल्याणबोधिसूरीश्वरजी म.)

९७. श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ श्वे.मू.जैन संघ, पद्मावती एपार्टमेन्ट, नालासोपारा (ई), (प्रेरक : पू.पा.आ.श्री हेमचंद्रसूरीश्वरजी म.)

९८. श्री ऋषभ प्रकाशभाई गाला, संघाणी घाटकोपर (वे), (प्रेरक : पू.पा.आ.श्री हेमचंद्रसूरीश्वरजी म.)

९९. श्री पुखराज रायचंद आराधना भवन, साबरमती (प.पू. व्याख्यान वाचस्पति आ.दे. श्रीमद्विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.नी कृपाथी)

१००. श्री कुंदनपुर जैन संघ, कुंदनपुर, राजस्थान ह. श्री शान्तिलाल मुथा

मेरा... वो सच नहीं,

सच... वो मेरा है।

एक सफर सच की शोध में...

अनादि संसारयात्रा को उर्ध्वगति की ओर टर्निंग पॉईंट देनेवाला एक अद्भुत ग्रंथ,
जिसका माध्यस्थ्यपूर्ण अध्ययन विश्व की किसी भी व्यक्ति के लिये
सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति का बीज बन सकता है,
जिसका परिशीलन सफलतापूर्वक विवादो को समाप्त कर सकता है।

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222